प्रकाशक :

श्रीमद् दर्शनानन्द ग्रन्थागार

कृष्णगङ्गा, मथुरा

मुद्रक :

गीता आश्रम प्रिंटिङ्ग प्रेस,

गऊघाट, मथुरा।

❀ ओ३म् ❀

भारत में मूर्तिपूजा

लेखक :—

'पूर्व-जन्म-स्मृति : (एक आध्यात्मिक विवेचन',)
'भारतीय संस्कृति के तीन प्रतीक' 'हरिनाम
संकीर्त्तन' 'ब्राह्मण और मूर्तिपूजा' आदि
अनेक उपयोगी ग्रन्थों एवं ट्रैक्टों के
यशस्वी प्रणेता—विद्वद्वर

श्री प० राजेन्द्रजी

अतरौली

प्रकाशक—

श्रीमद् दर्शनानन्द ग्रन्थागार

कृष्णगङ्गा, मथुरा.

प्रथमबार	विक्रमाब्द २०१४	मूल्य अजिल्द
१०००	शकाब्द १८७९	सजिल्द

प्रस्तावना

इस पुस्तक का प्रथम संस्करण लगभग ६ वर्ष पूर्व सौरभ प्रकाशन दिल्ली द्वारा प्रकाशित हुआ था। अनेक विद्वानों एव पत्र-पत्रिकाओं ने इसकी जिस प्रकार सराहना की है, उसकी मुझे आशा न थी। यह इसका दूसरा संस्करण श्री हरिप्रसाद जी शुभैषी तथा श्री ईश्वरीप्रसाद जी प्रेम के प्रशंसनीय उद्योग का परिणाम है। पुस्तक में इस वार कुछ महानुभावों द्वारा उठाई गई शंकाओं की समीक्षा जिनमें 'सिन्धु घाटी की अवशेषों से मूर्ति-पूजा की सिद्धि' तथा 'वेद में मूर्तिपूजा' के अतिरिक्त भारत के सुप्रसिद्ध विद्वान स्वामी विवेकानन्द तथा माननीय श्री राज-गोपालाचार्य द्वारा मूर्तिपूजा के पक्ष में दी गई युक्तियां मुख्य हैं- परिशिष्ट भाग में सम्मिलित करदी गई हैं। लिखना तो और भी था, परन्तु पुस्तक का कलेवर बढ़जाने के भय से नहीं लिखा गया।

पुस्तक अधिक से अधिक शिक्षित जनता के हाथों में पहुँचे और उसका अधिक प्रचार हो, प्रकाशक महानुभावों ने मेरे आग्रह पर इसका मूल्य लगभग लागत मात्र ही रखा है। आशा है कि इनके इस त्याग और उत्साह की सराहना करते हुए, इस संस्करण को भी पूर्ववत अपनाया जायगा।

अवरौली (अलीगढ़) राजेन्द्र

आषाढ़ ३०, शक सं० १८७६

प्रेमोपहार

कहाँ क्या पढ़ें ?

परिशिष्ट

मूर्तिपूजा का आदिकाल
तथा
आदि कारण

मूर्तिपूजा का आदिकाल

संसार के विभिन्न भागों में मूर्तिपूजा का सूत्रपात कब और कहाँ हुआ यह तो कहना कठिन है, किन्तु जहाँ तक भारत वर्ष का सम्बन्ध है, पूर्वी एव पश्चिमी सभी इतिहासिज्ञ तथा दार्शनिकों का मत है कि उसका जन्मकाल जैन-बौद्ध काल है। हिन्दू सम्प्रदायवादी चाहे इस विचार से सहमत न हों किन्तु निष्पक्ष स्वतन्त्र विचारक इस विषय में एक मत हैं। अतः जहाँ तक ऐतिहासिक खोज का सम्बन्ध है, इसका समय जैनबौद्ध काल से पहिले नहीं जाता।

बुद्ध का जन्मकाल ईसा से लगभग ६०० वर्ष पूर्व माना जाता है। वर्तमान जैन धर्म के प्रवर्त्तक महावीर स्वामी, महात्मा बुद्ध के समकालीन थे। भगवान बुद्ध की शिक्षाओं में कहीं भी मूर्तिपूजा का उल्लेख नहीं है। उन्होंने ८० वर्ष की आयु में निर्वाण पद प्राप्त किया। उनकी मृत्यु के पश्चात् स्मारक रूप में, उनके शिष्यों ने उनके केश, दाँत और अस्थियों को लेकर उन पर समाधियां निर्माण करदीं। सम्भवतः कुछ काल व्यतीत होने पर अज्ञान और मोह वश, इन स्मारक चिन्हों की पूजा आरंभ होगई। धीरे धीरे इन ही समाधियों पर बुद्ध की

मूर्तिया स्थापित करदी गईं और उनकी सर्वत्र पूजा होने लगी। बौद्ध धर्म की मूर्तिपूजा के इस विकास के लिये कुछ शताब्दियों का व्यतीत हो जाना अस्वाभाविक नहीं है। सम्भव है, प्रारम्भ में जैन धर्म में भी मूर्तिपूजा का कोई स्थान न हो और बौद्ध धर्म की भाँति इसमे भी उसका शनैः शनै विकास हुआ हो। अतएव मूर्तिपूजा का प्रारम्भिक काल महात्मा बुद्ध के जन्म के पश्चात् कुछ शताब्दियाँ व्यतीत होने पर ही निश्चय होता है।

मूर्तिपूजा हमारे देश मे बौद्धकाल से पूर्व किसी भी रूप मे प्रचलित न थी, इसका सबसे प्रबल ऐतिहासिक प्रमाण चीन के दो प्रसिद्ध यात्री फाहियान तथा हेनसॉग का यात्रा विवरण है। फाह्यिान ने इस देश की सन् ४०० ई० में यात्रा की। उसका कहना है कि उस समय काबुल में बौद्ध धर्म का पूर्ण विस्तार था और वहाँ ५०० बौद्ध विहार थे। मथुरा मे उसने तीन हजार बौद्ध भिक्षुओं को देखा था और उस समय वहाँ बौद्ध धर्म का पूरा प्रचार था। राजपूताने के समस्त राजा बौद्ध धर्मावलम्बी थे। उसने सर्वत्र ऐसे विहार देखे जिन पर लाखों रुपये व्यय किये गये थे। वह सब स्थानों में घूमता हुआ पटना पहुँचा जहा बौद्धो के संघो में प्रथम बार बुद्ध की मूर्ति को देखा। वह लिखता है.—

"प्रति वर्ष दूसरे मास के आठवें दिन मूर्तियो की एक सवारी निकाली जाती है। इस अवसर पर लोग चार पहिये का रथ बनवाते हैं और उस पर बाँसो का ठाठ बांध कर पांच खंड का बनाते हैं। उसके बीच एक खम्भा रखते हैं जो तीन फल वाले भाले की भाँति होता है और ऊंचाई मे २२ फीट या इससे अधिक होता है, और एक मंदिर की भाँति दीख पड़ता है। तब वे सफेद मलमल से उसे ढकते हैं और चटकीले रङ्गो से

उसे रंगते हैं। फिर देवों की चाँदी सोने की मूर्तियाँ वनाकर चाँदी सोने और काँच से आभूपित करके कामदार रेशमी चन्दुए के नीचे वैठाते हैं। रथ के चारों कोनों पर वे ताख वनाते हैं और उनमें वुद्ध की वैठी मूर्तियाँ जिनकी सेवा में एक वोधिसत्व खड़ा रहता है, वनाते हैं। ऐसे ऐसे वीस रथ वनाये जाते है। इस यात्रा के दिन वहुत से गृहस्थ और सन्यासी एकत्रित होते है। जव वह फूल और धूप चढ़ाते हैं तो वाजा वजता है और खेल होता है। श्रमण लोग पूजा को आते है। तव वौद्ध एक एक करके नगर में प्रवेश करते हैं। और वहाँ वे ठहरते हैं। तव रात भर रोशनी करते हैं। गाना और खेल होता है। पूजा होती है इत्यादि इत्यादि।"

यहाँ से इसने राजगृही, गया, काशी, कौशाम्वी और चंपा जो पूर्वी विहार की राजधानी थी, की यात्रा की। परन्तु उसने इन तीर्थों से एक भी हिन्दुओं का मन्दिर नहीं देखा। सव जगह वौद्धों के संघाराम ही देखे। ताम्रपल्ली में भी उसने २४ संघाराम देखे। अन्त में वह जहाज द्वारा सिंहल को चला गया।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि फाहियान की यात्रा के समय वौद्धो में भी सर्वत्र मूर्तिपूजा का प्रचार नहीं हुआ था। हिन्दुओं के अनेकानेक वर्तमान देवी देवताओं की मूर्तियों और उनके मन्दिरों की तो अभी सृष्टि भी नहीं हुई थी। इस प्रकार फाहियान का यात्रा काल निर्विवाद रूप से मूर्तिपूजा का प्रारम्भिक युग कहा जा सकता है।

फाहियान के लगभग दोसौ वर्प के पश्चात् हेनसाँग एक दूसरा चीनी यात्री भारतवर्ष में आया। वह फरगन, समरकंद, वुखारा और वलख होता हुआ, इस देश में आया। यह यात्री सन् ६४० ई० में भारत में था।

उसने जलालाबाद को बौद्धों से परिपूर्ण समृद्धशाली नगर पाया। उसने यहाँ पाँच शिवालय हिन्दुओं के देखे जिनके १०० पुजारी थे। कंधार और पेशावर में उसने एक हजार बौद्ध संघारामों को उजड़ा हुआ खंडहरावस्था में पाया और हिन्दुओं के सौ मन्दिर देखे।

उसने मालवा के राजा शिलादित्य का वर्णन किया है, जो विक्रमादित्य का पुत्र था। विक्रम ने मनोल्हत नाम के बौद्ध भिक्षु को हिन्दुओं का पक्षपाती होने के कारण अपमानित किया था, किन्तु शिलादित्य ने बुलाकर उसकी प्रतिष्ठा की थी। इस यात्री ने पौलुश नगर के निकट एक ऊँचे पर्वत पर नीले पत्थर से काटकर बनाई हुई एक दुर्गादेवी की मूर्ति देखी। जहां उसने धनी, दरिद्र सब ही को एकत्र इस मूर्ति की पूजा करते देखा। पर्वत के नीचे महेश्वर का एक मन्दिर था जहाँ भस्म लगाये अनेक साधु रहते थे।

काबुल और चमन मे जहाँ दोसौ वर्ष पूर्व फाहियान ने बौद्ध धर्म का पूर्ण उत्कर्ष देखा था, वहाँ ह्वेनसाँग ने संघारामों को उजाड़ पाया और दस हिंदू मन्दिरों को देखा। उसने तक्षशिला और काश्मीर में जैनियों को महावीर की मूर्ति पूजते देखा। काश्मीर मे अब भी बौद्धों का प्राबल्य था और वहाँ उस समय कनिष्क राज्य करता था जो बौद्ध था, बौद्धो की दशा उन्नत करने के अभिप्राय से एक सभा बुलाकर महायान सम्प्रदाय को जन्म दिया था। उसने अपने यात्रा विवरण मे पंजाब के राजा मिहिरकुल का भी उल्लेख किया है। जिसने पाँचो खडो के बौद्ध भिक्षुओं को मार डालने की आज्ञा दी थी और कंधार को विजय कर वहाँ के राजवंश को नष्ट कर डाला था। इसने बौद्ध संघारामों, स्तूपों और भिक्षुओं को नष्ट भ्रष्ट कर दिया

और सिंध के तट पर तीन लाख बौद्धों का वध कराया था।

मथुरा में इस समय भी बौद्ध धर्म का प्रचार था। वहाँ उसने २० संघाराम और दो हजार भिक्षुओं को उनमे पूजा, उत्सव आदि करते देखा।

उसने गंगा की प्रसंशा सुनी जो पापों का नाश करने वाली प्रसिद्ध थी। हरिद्वार मे उसने एक देव मन्दिर भी देखा जिसमे बडे चमत्कार किये जाते थे। हरि की पौड़ी उस समय पत्थर की निर्माण हो चुकी थी और उसमें स्नान करने का माहात्म्य प्रसिद्ध हो चुका था।

कन्नौज उस समय गुप्त राजाओं की सुप्रसिद्ध राजधानी थी। यहाँ उसने बौद्ध और हिन्दुओं को समानावस्था में पाया यहाँ पर १०० संघाराम और १० हजार भिक्षु तथा २०० देव मन्दिर और हजारों पुजारी उसने देखे। यहाँ के बौद्ध राजा शिलादित्य द्वितीय से भी उसकी भेंट हुई, जिसने गंगा के पूर्वीय तट पर १०० फीट ऊंचे स्तम्भ पर बुद्ध की मनुष्याकार सोने की मूर्ति स्थापित की थी।

वहाँ का वर्णन करते हुए वह लिखता है—'वसन्त ऋतु के तीन मास तक वह (शिलादित्य) भिक्षुओं और ब्राह्मणों को भोजन देता था। संघाराम से महल तक सब स्थान तम्बुओं और गवैनो की छोलदारियों से भर जाता था बुद्ध की एक छोटी सी मूर्ति एक अत्यन्त सजे हुए हाथी पर रक्खी जाती थी और शिलादित्य इन्द्र की भाँति सजा हुआ उस मूर्ति की बाईं ओर, और कामरूप का राजा दाहिनी ओर पाँच पाँच सौ युद्धके हाथियों की रक्षा में चलता था। राजा चारों ओर मोती, सोने चांदी के फूल एवं अनेक बहुमूल्य चीजें फेंकता जाता था। मूर्ति को स्नान कराया जाता था और शिलादित्य उसे स्वयं

कंधे पर रखकर पश्चिमी बुर्ज पर ले जाता था और उसे रेशमी वस्त्र और रत्न जटित भूषण पहनाता था। फिर भोजन और शास्त्र चर्चा होती थी।

ह्वेनसॉग ने अयोध्या मे भी बौद्धों के १० संघाराम और ३००० भिक्षु और बहुत से हिन्दुओं को देखा। प्रयाग मे उसने हिन्दुओं का प्राबल्य देखा और गंगा यमुना के संगम पर सैंकड़ों मनुष्यों को स्वर्गलाभ की लालसा मे मरते देखा। उसका कहना है कि नदी के बीच में एक ऊंचा स्तम्भ था जिस पर चढ़ कर लोग अस्त होते हुए सूर्यका दर्शन करते थे। श्रावस्ती,कौशांबी और काशी मे भी उसने हिन्दुओं का प्रभुत्व पाया। काशी में उसने ३० संघाराम. ३००० भिक्षुओं और १०० देव मन्दिर तथा १० हजार पुजारी देखे थे। यहॉ पर केवल महेश्वर की पूजा प्रचलित थी। महेश्वर की एक तांबे की १०० फीट ऊंची मूर्ति थी। वह इतनी गम्भीर और तेजपूर्ण थी कि जीवित सी जान पड़ती थी। वहॉ उसने एक मनुष्याकार बुद्ध की मूर्ति भी देखी थी।

वैशाली मे उसने बौद्ध संघारामों को खंडहरावस्थामें पाया। वहा बहुत से देवमन्दिर बन चुके थे। मगध में ५० संघाराम और दस हजार भिक्षुओं को देखा था। यहॉ हिन्दुओं के भी दस मन्दिर थे। पाटलीपुत्र इस समय उजाड हो चुका था। गया मे उसने ब्राह्मणों के कई हजार घर देखे। गया के बोधिवृक्ष और विहार की अपूर्व शोभा इस यात्री ने देखी थी। वह लिखता है:—

"यह १६० या १७० फीट ऊंचा है और बहुत सुन्दर बेल बूटों का काम इस पर हुआ है। कहीं तो मोतियों से गुथी हुई मूर्तियॉ बनी हैं—कहीं ऋषियों या देवताओं की मूर्तियाँ हैं।

इन सबके चारो ओर तावे का सुनहला आमलक फल है। इसके निकट ही महावोधि संघाराम का विशाल भवन है। जिसे लंका के राजा ने बनवाया है। उसकी ६ दीवारें तथा तीन खंड ऊंचे बुर्ज हैं। इसके चारों ओर ३०-४० फीट ऊंचे परिकोट हैं। इसमे शिल्प की बहुत भारी कला खर्च की गई है। बुद्ध की सोने चांदी की मूर्तियाँ है और उनमें रत्न जड़े हैं। वर्षा ऋतु में यहाँ बौद्धों का बहुत भारी मेला लगता है, लाखों मनुष्य आते हैं और दिन रात उत्सव मनाते हैं।"

यह नालंद विश्व विद्यालय मे कामरूप के राजा के साथ कुछ दिन रहा था। यहाँ इसने बड़े बड़े विद्वानो से बात चीत की थीं। मुंगेर, पूर्वी बिहार तथा उत्तरी बंगाल में बौद्धों के संघाराम और हिन्दुओं के देव मन्दिर दोनों ही समान रूप से विद्यमान थे। यहां से चलकर वह आसाम, मनीपुर, सिलहट आदि पहुंचा जहाँ बहुत से हिन्दू मन्दिर निर्माण हो चुके थे और बौद्धों का बहुत कुछ ह्रास हो चुका था। यहाँ उसने एक भी संघाराम नहीं देखा।

वर्तमान मिदनापुर के निकट ताम्रलिप्ति राज्य मे उसने जहाँ तहाँ संघाराम देखे। कर्ण सुवर्ण (मुर्शिदाबाद) मे उसने बौद्ध और हिन्दू दोनों ही पाये। उड़ीसा मे उसने १०० संघाराम और १० हजार भिक्षु देखे थे। पुरी का प्रसिद्ध जगन्नाथ का मन्दिर उस समय तक नहीं बना था। परन्तु हिन्दुओं के दस मन्दिर वहाँ बन गये थे। बौद्ध इस स्थान को अपनी रक्षा का एक मात्र स्थान समझते थे। पुरी में आज भी बौद्धों के ढंग पर जगन्नाथ जी की रथ यात्रा निकाली जाती है। कलिंग राज्य में बौद्ध धर्म का प्रचार नहीं था परन्तु बरार में हिंदू, बौद्ध दोनों ही समान थे। यहीं पर प्रसिद्ध सिद्ध नागार्जुन रहता था। आँध्र

प्रदेश में उसने २० संघाराम और ३० देव मन्दिर देखे। द्राविण देश में बौद्धों का अब भी बहुत प्रभाव था। यहाँ १०० संघाराम और १० हजार भिक्षु थे। मालाबार में बौद्धों और हिन्दुओं की समानता थी। लंका में वह स्वयं नहीं गया किन्तु उसने लिखा है कि वहाँ १०० बौद्ध मठ और २० हजार भिक्षु थे। महाराष्ट्र में उसने अनेक बौद्ध संघाराम और अजन्ता की प्रसिद्ध गुफाओं को देखा। यहाँ ७० फीट ऊंची बुद्ध की मूर्ति थी। मालवा में उसने सौ २ संघाराम और हिंदू मन्दिर देखे। कच्छ गुजरात और सिंध प्रदेशों मे उसने सर्वत्र बौद्धों का पतन और मूर्तिपूजक हिंदू धर्म का उत्कर्ष देखा था।

होनसॉग का यह यात्रा विवरण मूर्तिपूजा के इतिहास पर फाहियान की भाँति एक दूसरी अत्यन्त प्रामाणिक निष्पक्ष साक्षी है। जहाँ फाहियान का समय बौद्ध धर्म के उत्कर्ष और मूर्ति पूजा का आदिम युग था, वहाँ होनसॉग के यात्रा काल में बौद्ध धर्म का बहुत कुछ ह्रास हो चुका था और हिन्दुओं के वर्तमान पौराणिक धर्म की जड़ जम चुकी थी। इस समय को हम बौद्ध और पौराणिक धर्म के संघर्ष का समय कह सकते हैं। बौद्धों का अनुसरण करते हुए हिन्दुओं मे भी मूर्ति पूजा प्रचलित हो चुकी थी और उनके सैकड़ों मन्दिर बन चुके थे।

कुछ विद्वानो का यह भी मत है कि सबसे पहिले मूर्ति पूजा जैन धर्म मे प्रारम्भ हुई और बौद्धों ने उसे जैनियों से और हिन्दुओं ने जैन एवं बौद्धो से ग्रहण किया। जैन सम्प्रदाय के श्वेताम्बर शाखा वाले मूर्तिपूजा को जैन मत का अङ्ग नहीं मानते। वे दिगम्बर सम्प्रदाय द्वारा प्रचलित तीर्थंकरों की पूजा का निषेध करते हैं। उनका अभिमत है कि जैन धर्म ग्रंथों में मूर्तिपूजा का कहीं उल्लेख नहीं है। इसकी सम्पुष्टि में वे अपने

धर्म ग्रन्थों के अनेकानेक प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। परन्तु हमारा तात्पर्य तो यहाँ केवल इतना ही सिद्ध करना है कि हिन्दू धर्म की वर्तमान मूर्ति पूजा बौद्ध-जैन काल की देन है, और इसका प्राचीन आर्य धर्म से कोई भी सम्बन्ध नहीं है।

फारसी भाषा का 'बुत' शब्द जो स्पष्टतया 'बुद्ध' का अपभ्रंश है, यह सिद्ध करता है कि न केवल भारतवर्ष अपितु ईरान आदि देशों में भी सर्व प्रथम जिस मूर्ति की पूजा का प्रचार हुआ अथवा वहाँ के निवासी जिस मूर्ति के सम्पर्क मे आये वह मूर्ति 'बुद्ध' की थी। फलतः 'बुत' शब्द ही मूर्ति का पर्यायवाची बनकर फारसी भाषा में प्रयुक्त होने लगा। अतः 'बुत' शब्द भी यही सिद्ध करता है कि मूर्ति पूजा का प्रारम्भ बुद्ध की मूर्ति से हुआ और जहाँ जहाँ बौद्ध धर्म का विस्तार हुआ वहाँ वहाँ मूर्ति पूजा भी प्रचलित होती गई।

पंडित जवाहरलाल नेहरू ने अपनी 'हिन्दुस्तान की कहानी' (The Discovery of India) में ठीक हमारे ही उपर्युक्त विचारों की सम्पुष्टि की है। वह इस पुस्तक के भारत और यूनान (India and Greece) शीर्षक अध्याय में पृष्ठ १७२ पर लिखते हैं:—

"यह एक मनोरंजक विचार है कि मूर्तिपूजा भारत में यूनान से आई। वैदिक धर्म हर प्रकार की मूर्ति तथा प्रतिमा-पूजन का विरोधी था। उस (वैदिक) काल में देव मूर्तियों के किसी प्रकार के मन्दिर नहीं थे। कदाचित् पीछे के सम्प्रदायों में मूर्तिपूजा के कुछ चिन्ह पाये जाते हैं किन्तु यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि उसका इस देश में विस्तृत प्रभाव नहीं

प्रारम्भिक बौद्ध मत उसका घोर विरोधी था और बुद्ध की प्रतिमा तथा मूर्ति-निर्माण के विरुद्ध विशेष आज्ञाएं थीं। यूनानी

मूर्ति-कला का अफगानिस्तान और सीमान्त प्रदेश के चारों ओर अधिक प्रभाव था और यह शनै शनै यहाँ भी प्रविष्ट हो गया। किन्तु इस पर भी प्रारम्भ मे बुद्ध की मूर्ति न बनाकर 'अपोलो' (यूनान का एक देवता) जैसी 'बौधिसत्वों' की ही मूर्तियां बनाई गई—जो बुद्ध के पूर्व अवतार माने जाते थे। पीछे से स्वयं बुद्ध की मूर्तियां निर्माण होने लगीं। हिन्दू धर्म के कुछ सम्प्रदायों ने भी उनका अनुकरण किया, किन्तु वैदिक धर्म निरन्तर इस प्रभाव से मुक्त-रहा। फारसी तथा उर्दू भाषा मे प्रतिमा अथवा मूर्ति के लिये अब भी 'बुत' शब्द प्रयुक्त होता है, जो बुद्ध का रूपान्तर है।"

"It is an interesting thought that image-worship came to India from Greece. The Vedic religion was opposed to all forms of idol and image-worship There were not even any temples for the gods There probably were some' traces of image-worship in the older faiths of India though this was certainly not widely prevalent Early Budhism was strongly opposed to it and there was a social prohibition against the making of image and statues of the Budha But Greek artistic influence in Afghanistan and round about the frontier was strong and gradually it had its way Even so, no statues of the Budha were made to begin with, but Appollo-like statues of Bodhisattavas (supposed to be the previous incarnations of the Buddha) appeared These were followed statues and images of the Buddha himself This encouraged

image-worship in some forms of Hinduism, though not in the Vedic religion which continued to be free of it. The word for an image or statue in Persian and in Hindustani still is '*But*' (like put) derived from Buddha "

मूर्ति पूजा का आदि कारण:—

मूर्ति पूजा-प्रसार के, कालांतर में चाहे अनेक कारण बन गये हों, परन्तु मूल रूप में उसके आदि-कारण केवल दो ही हैं:— (१) पूर्व महापुरुषों की चिरस्थायी स्मृति रखने की लालसा तथा (२) अदृश्य वस्तु को भी मूर्तिमान देखने की अज्ञ जन समुदाय की उत्कण्ठा।

महापुरुषों और महात्माओं की मृत्यु के पश्चात् सर्व साधारण में उनके प्रति सम्मान और श्रद्धा के भाव जागृत रखने के लिए, जिससे वे उनके सदुपदेशों एवं आदर्शों को विस्मृत न करदें, उनके चित्रों अथवा प्रतिमूर्तियों का बुद्धिमान लोगों ने निर्माण किया। किन्तु अज्ञान अथवा स्वार्थवश, कुछ शताब्दियां व्यतीत होने पर उनका जीवित पुरुषों की भांति पूजा सत्कार प्रचलित हो गया और यह समझा जाने लगा कि उनकी पूजा और उपासना मात्र से हमारे कष्ट दूर हो सकते हैं। महापुरुषों की वास्तविक पूजा उनके पग-चिन्हों पर चलना है, इस तत्व को भुला दिया गया। उनकी प्रतिमूर्तियों के सम्मुख खड़े होकर उनसे सहायता के लिये याचना करना अथवा जीवितों की भाँति उनका स्नान, मार्जन, चन्दन-लेपन एवं भोजन, भेंट सत्कारादि निरर्थक परिक्रियाएं केवल मनुष्य समाज के अज्ञान और अन्ध विश्वास की परिचायक हैं।

जैसा कि पूर्व लिखा जा चुका है, बौद्ध मूर्ति पूजा का सूत्र-पात ठीक इसी प्रकार हुआ है। जैन, बौद्ध दोनों ही अनी-

श्वरवादी थे। उनके समक्ष उनके आचार्यों के अतिरिक्त ईश्वर जैसा अन्य आदर्श नहीं था। मानव स्वभाव में ईश्वरोपासना की भावना बीज रूप से निहित है। मनुष्य अल्पज्ञ और अपूर्ण है। वह असफलता और निराशावस्था मे, अपने से बलवान शक्ति की साहाय्य एवं सामीप्य की आवश्यकता का अनुभव करता है। जिन सम्प्रदायों अथवा समाजों में ईश्वर-विश्वास का अभाव है, उनमे अपने आचार्यों अथवा नेताओं की मृत्यु के उपरान्त उनकी समाधियों और प्रतिमूर्तियों की पूजा मानव स्वभाव की उसी असहाय अवस्था की प्रतिक्रिया है। यही कारण है कि जैन और बौद्ध दोनों ही सम्प्रदायों में कुछ पीढ़ियाँ बीतने पर उनके आचार्यों की मूर्तियों का पूजा-सत्कार इस प्रकार होने लगा, मानो वह अब भी जीवित हैं। बौद्ध काल के अन्त मे हिन्दुओं ने जैन, बौद्धों का अनुकरण किया और अनेक वैदिक देवताओं की कल्पना के साथ साथ इन्होंने उनकी मूर्तियां भी निर्माण करली।

अज्ञ समुदाय निगूढ दार्शनिक विचारों के समझने की क्षमता नहीं रखता। उसकी प्रवृत्ति प्राय. इन्द्रियगोचर विषयों की ओर ही होती है। वह अदृश्य पदार्थों की भी मूर्तिमान् कल्पना करने में ही सन्तुष्ट होता है। निराकार ईश्वर की तीन शक्तियाँ ब्रह्मा, विष्णु, महेश तथा मरुत, इन्द्र, वरुण, सरस्वती आदि अनेक प्राकृतिक पदार्थों की मूर्तिमान् कल्पना, इस प्रवृत्ति का ही फल है। रोग और मृत्यु तक की भयानक मूर्तियों की व्युत्पत्ति, मनुष्य की इसी इच्छा का परिणाम है। विदेशी मूर्ति पूजा का इतिहास भी ऐसी कल्पनाओं से परिपूर्ण है। वहाँ भी प्राकृतिक दैवी दुर्घटनाओं को देख कर उनके अधिष्ठातृ देवताओं की कल्पना करली गई।

कुछ विद्वानो का मत है कि बौद्ध पचारकों ने चीन, यूनान आदि पदेशों मे अनेक देवी देवताओं की मूर्ति पूजा प्रचलित देखी और वे इस भावना को इस देश में अपने साथ लाये। इसी प्रकार विदेशी लोगो के इस देश पर आक्रमण तथा हूण, किरात, आभीर आदि अनेक विदेशी मूर्ति पूजक जातियों के सम्मिश्रण ने इस देश मे न केवल मूर्ति पूजा के विचारों को ही जन्म दिया अपितु उनके अनेक देवी देवताओं की मूर्तिया यहाँ भी पूजी जाने लगीं। चतुर स्वार्थी लोग सदा और सर्वत्र जन साधारण की अज्ञता से लाभ उठाया करते हैं। समय व्यतीत होने पर ऐसे ही लोगों ने मूर्तियों के अनेक चमत्कार दिखा कर उनमे दैवी शक्ति सिद्ध करना प्रारम्भ कर दिया और इस प्रकार अनुचित एवं दम्भपूर्ण उपायो द्वारा मूर्ति पूजा को धनोपार्जन का एक साधन बना लिया गया।

चाणक्य ने अपने कौटल्य अर्थ शास्त्र मे राजा तक को ऐसे ही उपायों द्वारा राज्य-कर-वृद्धि का अनुचित परामर्श दिया है। चाणक्य को सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य का प्रधान मन्त्री बताया जाता है और उसका समय भी बौद्ध कालान्तर्गत ही है। वह लिखता है:—

(१) पाखण्डसंघद्रव्यमश्रोत्रिय भोग्यं देवद्रव्यं वा कृत्यकरा: प्रेतस्य दग्धहृदयस्य वा हस्ते न्यस्तमित्युपहरेयु. ॥४३॥

(२) देवताध्यक्षो दुर्गराष्ट्र देवतानां यथा स्वमेकस्थं कोशं कुर्यात् ॥४४॥ तथैव चापहरेत् ॥४५॥

(३) दैवत चैत्य सिद्धपुण्यस्थानमौपादिकं वा रात्रावुथाप्य यात्रा समाजाभ्यामाजीवेत् ॥४६॥

(४) चैत्योपवन वृक्षेण वा देवताभिगमनमनर्तिव पुष्पफल युक्तेन ख्यापयेत् ॥४७॥

(५) मनुष्यकरं वा वृक्षे रक्षोभयं रूपयित्वा सिद्धव्यञ्जनाः पौरजानपदाना हिरण्येन प्रतिकुर्युः ॥४८॥

(६)सुरङ्गायुक्ते वाकूपे नाममनियतशिरस्कं हिरण्योपहारेण दर्शयेत् नागप्रतिमायामन्तश्छिद्रायाम् ॥४६॥

(७) चैत्यछिद्रे वल्मीकछिद्रे वा सर्पं दर्शनमाहारेण प्रतिवन्धसज्ञं कृत्वा श्रद्दधानाना दर्शयेत् ॥५०॥

(८) अश्रद्दधानानामाचमनप्रोक्षणेषु रसमुपचाय्य देवताभिशापं ब्रूयात् ॥५१॥

अर्थ—(१) किसी भी पाखण्ड से संघ का धन या देवधन जिसे श्रोत्रिय न भोगते हों कृत्यकार (उस्ताद) लोग यह कह कर कोप में पहुँचा देवें कि हमने वह धन किसी ऐसे के यहा रखा था जो मर गया अथवा जल गया ।

(२) देवों के अध्यक्ष की भाति अपने कोप को बढ़ाए उसी प्रकार अपहरण करे ।

(३) रात्रि में उठकर कहीं पर देवमन्दिर या सिद्ध स्थान या कोई अद्भुत घटना खड़ी करके वहाँ यात्रा और समाज लगवा देवे और उनसे धन कमावे ।

(४) यदि चैत्य वा वृक्ष मे असमय फूल फल आवें तो देवता का आ जाना प्रसिद्ध करे ।

(५) वृक्ष में किसी मनुष्य को छिपाकर, उसके द्वारा राक्षस का भय दिखला कर सिद्ध का स्वांग बनाये और पुर और देश वासियों के स्वर्ण से उसका प्रतिकार करावे ।

(६—७) सोना भेंट चढ़ाने पर सुरङ्ग वाले कुए में नाग दिखलावें जिसका सिर बंधा रहे । श्रद्धालुओं को छिद्र युक्त नाग की प्रतिमा में या मन्दिर या वल्मीक के छेद में नाग का प्रत्यक्ष दर्शन करावे पहिले नाग को कुछ खिला कर सुस्त बना देवे ।

(८) जो अश्रद्धावान हो उनके आचमन और छींटा देने के जल में कुछ मिला देवें जिससे बेहोश होने पर देवता का कोप बतावें।

वर्तमान सुधार काल से पूर्व इस देश मे मूर्तियों के ऐसे चमत्कारों पर जनसाधारण का पूरा विश्वास था। लोग मूर्तियों के कोप से भयभीत रहते थे और पण्डे पुजारी उससे पूरा पूरा लाभ उठाते थे। आज भी अशिक्षित जनता मे इस प्रकार के मिथ्या विचार समूल नष्ट नहीं हुए है।

वैदिक काल और मूर्तिपूजा

अति प्राचीन काल से वेदों को आर्य लोग अपौरुषेय मानते चले आरहे हैं। अन्य सिद्धान्तों मे चाहे मतभेद हो किन्तु वेदों के अपौरुषेय अथवा ईश्वरीय ज्ञान होने में आर्यधर्म के सभी सम्प्रदाय एक मत हैं। वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, शास्त्र, स्मृति यहाँ तक कि पुराण भी जो आर्यधर्म के वर्तमान विकृत रूप का मूल कारण हैं, एक स्वर से इन्हें ईश्वरीय वाणी उद्घोषित करते हैं, और सृष्टि के आदि में मनुष्यों के प्रादुर्भाव के साथ ही चार ऋषियों पर इनका प्रकट होना वर्णन करते हैं।

पाश्चात्य विद्वान जिनमें बहुतोंका विकासवाद (Evolution) के सिद्धान्त पर विश्वास है, तथा उनसे प्रभावित इनके अनुगामी भारतीय पंडित, जो वेदों को अपौरुषेय नहीं मानते, कम से कम इतना मानने के लिए विवश हैं कि ऋग्वेद ससार की प्राचीनतम पुस्तक है।

पीछे वेदों के अर्थों को स्पष्ट करने के लिए उन्हें आधार-भूत मानकर ऋषियों ने ब्राह्मण, उपनिषद्, एवं शास्त्रादि अनेक ग्रन्थों की रचना की। अतः हमने इन ग्रन्थों के रचनाकाल को भी जो वास्तव में सृष्टि उत्पत्ति काल से बहुत पीछे का समय है, वैदिक कालान्तर्गत परिगणन कर लिया है, और रामायण तथा महाभारत काल से पूर्व के समय को वैदिक काल मे ही समाविष्ट किया है।

पूर्व के अध्याय मे हमने मूर्ति पूजा की आधुनिकता पर कुछ

प्रकाश डाला है। किन्तु मूर्तिपूजक हिन्दू सम्प्रदाय, मूर्तिपूजा को वेदशास्त्रानुकूल प्रतिपादन करने का समय समय पर प्रयत्न करते रहते हैं। अतः वेद, ब्राह्मण, उपनिषद् एवं शास्त्रों का इस सम्बन्ध में क्या मत है तथा क्या वास्तव में मूर्तिपूजा वेदशास्त्र अनुकूल है, इसी पर इस अध्याय में कुछ विचार किया जायेगा।

मूर्ति शब्द वैदिक नहीं है अपितु लौकिक है, और जहाँ तक इस शब्द का सम्बन्ध है चारों वेदों में यह कहीं भी प्रयुक्त नहीं हुआ। अमर कोष तृतीय काण्ड, नानार्थवर्ग ३. श्लोक ६६ पर लिखा है—'मूर्तिः काठिन्य काययो.,। अर्थात 'मूर्ति.' यह एक नाम कठिनपने और शरीर का है। इस प्रकार 'मूर्ति' शब्दार्थ से सिद्ध है कि वह आकार वाली होनी चाहिये। 'आकाराविङ्गिताकृती'। (अमरकोष ३ काण्ड, नानार्थ वर्ग ३, श्लोक १६२), आकार आकृति को कहते हैं'। और आकृति वाली वस्तु साकार होती है। जिन मूर्तियों की पूजा की जाती है वे शरीरधारी साकार हैं और सोने, चाँदी, पीतल, ताँबा, लोहे, पत्थर, मिट्टी आदि कठोर धातुओं की बनी हुई होती है, अतः 'मूर्ति' शब्द का जो अर्थ ऊपर दिया गया है वह संगत ही है।

हिन्दुओं में जिन मूर्तियों की पूजा प्रचलित है वे या तो परमात्मा की तीन शक्ति ब्रह्मा, विष्णु, महेश की कल्पित मूर्तियाँ हैं या उसके अवतारों की हैं। अथवा देवताओं, देवदूतों और गुरुओं की हैं। बहुत सी मूर्तियाँ इनकी पत्नियों, पारिवारिकजनों, सेवकों और वाहनों की हैं। शिव-पार्वती जननेन्द्रिय की गर्हित आकृति 'शिवलिंग' पूजा भी भारतवर्ष मे सर्वत्र प्रचलित है।

जिन मूर्तियों का हमने ऊपर उल्लेख किया है, उनमें एक भी परमात्मा की मूर्ति नहीं है। वेद स्पष्ट कहता है कि परमात्मा की कोई प्रतिमा नहीं है:—

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः ।
हिरण्यगर्भः इत्येष मामाहिँ सीदित्येषा
यस्यमान्न जात इत्येष. । यजु० ३२ । ३ ॥

अर्थ–जिसका महान प्रसिद्ध यश है, उस परमात्मा की कोई प्रतिमा नहीं है । हिरण्यगर्भ आदिमन्त्रों द्वारा तथा 'मा मा हिंसीत्' इस मन्त्र से, और 'यस्मान्नजात' इन मन्त्रों से उसका वर्णन होता है । अर्थात् उक्त मन्त्रों द्वारा जिसके महान प्रसिद्ध यश का गायन हुआ है, उस परमात्मा की कोई प्रतिमा नहीं है । महीधर ने भी इसका यही भाष्य किया है— तस्य पुरुषस्य प्रतिमा, प्रीतिमानुपमानं किञ्चद्वस्तु नास्ति अतएव नाम प्रसिद्धं महत् यश यस्यास्ति सर्वातिरिक्त यशः । इत्यादि ।

अर्थात् उस परमात्मा की प्रतिमा, प्रतिमान, उपमान कोई वस्तु नहीं है, इसलिये महत् यश है जिसका, ऐसा वह सबसे अधिक यशवाला है ।

उव्वटाचार्य ने भी इसके यही अर्थ किये हैं ।

अतः जब उसकी कोई प्रतिमा, प्रतिमान, उपमान वस्तु ही नहीं है तब उसकी मूर्ति बन ही कैसे सकती है । यही कारण है कि जितनी भी मूर्तियाँ प्रचलित हैं, चाहे वह परमात्मा की शक्तियों की हों चाहे उसके अवतारों की, किन्तु स्वयं परमात्मा की एक भी नहीं है ।

परमात्मा आकृति और शरीर रहित, निराकार है, अतएव उसकी प्रतिमूर्ति बनाई ही नहीं जा सकती । निम्न वेदमन्त्र परमात्मा के निराकार और अशरीरी होने का स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादन करता है ।

सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरँ शुद्धमपापविद्धं ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्

व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः। यजु० ४०। ८॥

अर्थ—वह ईश्वर सर्वव्यापक है। जगदुत्पादक, शरीर रहित शारीरिक विकाररहित, नाड़ी और नस के बंधन से रहित पवित्र, पाप से रहित, सूक्ष्म-दर्शी, ज्ञानी, सर्वोपरि वर्तमान, स्वयंसिद्ध, अनादि प्रजा के लिए ठीक ठीक कर्मफल का विधान करता है।

इस वेद मंत्र में परमात्मा को 'शरीररहित' शारीरिक विकार रहित एवं 'नाड़ी, नस के बंधन से रहित' बताकर उसके साकारत्व का अत्यन्त निषेध किया है।

वेदों में अनेक स्थलों पर परमात्मा का रूपक अलङ्कार द्वारा 'विश्वरूप' में वर्णन किया गया है। उसे देख कर लोग वेदों में ईश्वर का साकारत्व सिद्ध करने का असफल प्रयत्न किया करते हैं। ऐसे कुछ मंत्र नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
सभूमि ँ सर्वतस्पृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ यजु० ३१। १॥

अर्थ—सब प्राणियों के हजारों शिर, हजारों नेत्र, असंख्य पाद जिसके बीच में हैं, ऐसा यह परमात्मा भूगोल में सब ओर से व्याप्त होकर, पांच स्थूल, पाँच सूक्ष्म भूत जिसके अवयव हैं उस सब जगत को लाँघ कर स्थित है अर्थात् सब में और सब से प्रथक है।

इस मन्त्र में परमात्मा को 'सहस्रशीर्ष', 'सहस्राक्ष' और 'सहस्रपात्' अर्थात् हजारों शिर, हजारों आँख और हजारों पैर वाला अलंकार रूप से वर्णन किया गया है। सायण, महीधर, उदयन सभी भाष्यकारों ने इस मन्त्र का वही अर्थ किया है जो यहाँ ऊपर दिया गया है। सब प्राणियों के शिर, आँख, पग

न वहाँ आँख पहुँचती है, न वाणी जाती है और न मन, इसलिये उसको न जानते हैं न जान सकते हैं, जिससे उसका उपदेश किया जा सके। वह ज्ञात वस्तुओं से पृथक है और अज्ञात से भी भिन्न है। ऐसा पूर्व आचार्यों से सुनते हैं, जो हमको उसका उपदेश करते हैं।

यद्वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते। तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते ॥ ४ ॥ यन्मनसा न मनुते, येनाहुर्मनोमतम्। तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते ॥ ५ ॥ यच्चक्षुषा न पश्यति, येन चक्षूंषि पश्यति। तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते ॥ ६ ॥ यच्छ्रोत्रेण न शृणोति, येन श्रोत्रमिदं श्रुतम्। तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते ॥ ७ ॥ यत्प्राणेन न प्राणिति, येन प्राणः प्रणीयते। तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते ॥ ८ ॥

जो वाणी द्वारा प्रकाशित नहीं होता, जिससे वाणी का प्रकाश होता है, उसी को तू ब्रह्म जान, जिसका वाणी से सेवन किया जाता है, वह ब्रह्म नहीं है ॥ ४ ॥ जिसका मन से मनन नहीं किया जाता, जिससे मन मनन करता है, उसी को तू ब्रह्म जान, जिसका मन से मनन किया जाता है वह ब्रह्म नहीं है ॥ ५ ॥ जो आँख से नहीं देखा जाता, जिससे आँख देखती है, उसी को तू ब्रह्म जान, जो आँख से देखा जाता है वह ब्रह्म नहीं है ॥ ६ ॥ जो कान से नहीं सुना जाता, जिससे कान सुनता है, उसी को तू ब्रह्म जान, जो कान से सुना जाता है वह ब्रह्म नहीं है ॥ ७ ॥ जो प्राण से प्राण के व्यापार में नहीं आता, जिससे प्राण अपना व्यापार करता है, उसी को तू ब्रह्म जान, जो प्राण के व्यापार में आता है वह ब्रह्म नहीं है ॥ ८ ॥

उपर्युक्त उपनिषद् वाक्यों में यह सुस्पष्ट शब्दों में बताया

गया है कि परमात्मा आकार रहित होने के कारण इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करने की वस्तु नहीं है।

अशरीरं शरीरेषु अनवस्थेष्ववस्थितम्। महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति। कठ० १। २। २२॥

वह परमात्मा लोगों के शरीर में रहते हुए भी स्वयं शरीर रहित है। बदलने वाली वस्तुओं में एक रस है! उस महान विभु आत्मा को जान कर धीर पुरुष शोक मुक्त हो जाता है।

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्चयत्। अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते॥ क० ३।१८.

वह ब्रह्म शब्द नहीं, स्पर्श नहीं, रूप नहीं, इस प्रकार रस नहीं और न गन्ध वाला है। वह अविनाशी, सदा एक रस रहने वाला, अनुत्पन्न, सीमा रहित महत्तत्व से भी सूक्ष्म, अचल है। उसको निश्चयात्मक रीति से जान कर मनुष्य मौत के मुख से छूट जाता है।

अणोरणीयान्महतोमहीयानात्मास्यजन्तोर्निहितो गुहायाम्। तमक्रतु. पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः॥ क० २।२०॥

ब्रह्म सूक्ष्म से भी अत्यन्त सूक्ष्म है, बड़े से भी बड़ा है। वह इस प्राणी के हृदयाकाश में स्थित है। उस आत्मा की महिमा को बुद्धि के निर्मल होने से निष्काम शोक रहित प्राणी देखता है।

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम्। सत्त्वादपि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम्॥ क०,६।७॥

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च। यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति॥ क० ६।८॥

इन्द्रियों से मन सूक्ष्म है, मन से सूक्ष्म अहङ्कार है। अहङ्कार से भी सूक्ष्म महत्तत्व है तथा महत्तत्व से भी सूक्ष्म प्रकृति और जीवात्मा है। जीव और प्रकृति से भी सूक्ष्म परमात्मा है जो कि व्यापक और चिन्ह आदि से रहित (निराकार) है। जिसको जानकर मनुष्य दु:खों से छूट जाता है और अमृतत्व को प्राप्त होता है।

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा मनीषी मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ।क० ६।६।।

इस ब्रह्म का कोई रूप सामने नहीं है और न आँखों से इसे कोई देख सकता है। यह हृदय, मन तथा बुद्धि से ज्ञात होता है जो लोग इसे जानते है वह अमृत हो जाते हैं।

यत्तदद्रश्यमग्राह्यमगोत्रमचक्षु: श्रोत्रं तदपाणिपादं। नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीरा: ।। मु० १।१।६ ।।

जो परमात्मा न देखा जाता है न पकड़ा जाता है जिसका कोई गोत्र नहीं, वर्ण नहीं, जिसके न नेत्र हैं न श्रोत न हाथ न पांव है। वह नित्य है, व्यापक है, सर्वगत है और बड़ा सूक्ष्म तथा अव्यय है। उसी जगत के निमित्त कारण ब्रह्म को धीर पुरुष सर्वत्र देखते हैं।

दिव्यो ह्यमूर्त: पुरुष: स बाह्याभ्यान्तरोऽज अप्राणोह्यमना: शुभ्रो ह्यक्षरात्परत: पर ।। मु० २।२।२

वह ब्रह्म निश्चय ही प्रकाशमान्, मूर्तिरहित, सर्वव्यापक, बाहर और भीतर सर्वत्र वर्तमान, जन्मरहित, प्राण रहित, मन से शून्य, पवित्र, सूक्ष्म अविनाशी प्रकृति और जीव से सूक्ष्म है।

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा ;
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमान:
—मु० ३।१।८।।

वह ब्रह्म आँख से ग्रहण नहीं किया जाता। उसे न वाणी से, न अन्य इन्द्रियों से, न तप से और न कर्म से ग्रहण किया जा सकता है। अपितु ज्ञान की महिमा से शुद्ध अन्तःकरण वाला होकर ध्यान करता हुआ ही जीव उस कला रहित ब्रह्म को देख सकता है।

तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः स्रोतस्वरणीषुचाग्निः एव मात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति ॥श्वे० १।१५॥

जैसे तिलों में तेल, दही में मक्खन, स्रोतों में जल और अरणियों में अग्नि, पेरने, विलोने, खोदने और रगड़ने से प्राप्त होती है। इसी प्रकार परमात्मा आत्मा में ग्रहण किया जाता है यदि कोई सत्य और तप से उसे ज्ञान दृष्टि से देखता है।

सर्वव्यापिनमात्मनं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम्। आत्मविद्यातपोमूलं तद्ब्रह्मोपनिषत्परम् ॥श्वे० १।१६॥

वह सर्वव्यापी दूध में मक्खन की तरह सब मे समाया हुआ है। आत्म विद्या और तप उसकी प्राप्ति का मूल है। वह ब्रह्म, उपनिषद् का परम रहस्य है।

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखं। सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्यतिष्ठति ॥श्वे० ३।१६॥

सब जगह उसके हाथ और पांव हैं, सब जगह उसके नेत्र, शिर और मुख हैं। सब जगह उसके कान है और वह लोक में सबको घेर कर स्थित है।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्। सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत् ॥श्वे० १।१७॥

सारे इन्द्रियों के गुणों को प्रकाश देता है, परन्तु सारी इन्द्रियों से रहित है। वह सबका स्वामी, सब पर शासन करने वाला तथा सबका शरण है।

अपाणिपादो जवनो गृहीता पश्यत्यचक्षु. सशृणोत्यकर्णः ।
सवेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुपं महान्तम्
श्वे० ३।१६

वह विना हाथ के सबका ग्रहण करने वाला तथा विना पाँव के वेग वाला है। विना नेत्र के देखता और विना कान के सुनता है। वह हर एक जानने योग्य वस्तु को जानता है पर उसका अंत जानने वाला कोई नहीं। ज्ञानी लोग उसको मुख्य महान् पुरुष कहते हैं।

सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारम् ज्ञात्वाशिवं शान्तिमत्यन्तमेति ॥
श्वे० ४।१४॥

वह ईश्वर सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है। वह इस जगत् और उसके प्रत्येक पदार्थ में व्यापक है। उसी ने इस विश्व और उसके रूप वाले पदार्थों को रचा है। वह सारे संसार को घेरे हुए है। उसी कल्याण स्वरूप प्रभू को जानकर मनुष्य अत्यन्त शान्ति को प्राप्त होता है।

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥
श्वे० ६।८॥

उसका कोई कार्य नहीं, उसके इन्द्रियादि करण नहीं। उसके समान और न उससे कोई अधिक है। उसकी शक्ति सबसे महान् है। उसमें ज्ञान, बल तथा कार्य करने की शक्ति स्वभाव से है।

न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके न चेशिता नैव च तस्य लिंगम्।
स कारणं करणाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः ॥
श्वे० ६।६॥

लोक मे कोई उस परमात्मा का पति नहीं, न उस पर कोई

शासन करने वाला है और उसका न कोई चिन्ह है। वह जगत् का निमित्त कारण है। वह इन्द्रियों के स्वामी जीवात्माओं का भी स्वामी है। वह न किसी से उत्पन्न हुआ है और न उसका कोई स्वामी है।

उपर्युक्त समस्त उपनिषद् वाक्य जहाँ परमात्मा को सुस्पष्ट रूप में निराकार वर्णन करते हैं वहां यह भी बताते हैं कि उसे शुद्ध अंतःकरण से ध्यान द्वारा ही जीवात्मा में ग्रहण किया जाता है। अतएव "मूर्ति पूजा ईश्वर प्राप्ति का साधन है" इस युक्ति का भी स्वतः निराकरण हो जाता है। वेद भी ईश्वर प्राप्ति की इसी विधि का निम्न शब्दों मे निरूपण करते हैं:—

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चित.,।
विहोत्रादधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितु. परिष्टुतिः।

ऋ० ५। ८१। १

युक्ते मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे, स्वर्ग्याय शक्तया।

यजु० ११। २

युजेवां ब्रह्मपूर्व्यं नमोभिर्विश्लोक एतु पथ्येव सूर.
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आये धामानि दिव्यानि तस्थुः।

यजु० ११। ५

अर्थात् बड़े बड़े यज्ञ याग करने वाले और विद्वानों से भी अधिक विद्वान् अपना मन और बुद्धि उस एक ही महान् देवाधिदेव परमात्मा में युक्त करते हैं। पूरी शक्ति से हम लोग स्वर्गीय सुखों के लिये अपने मन को सविता देव में जोड़ते हैं। सब लोग यह बात कान खोल कर सुनलें कि पूर्वजों ने योग बल से ही प्रकाश मार्ग से यात्रा की है, इसलिये जो योग करेगा-ब्रह्म में मन लगायेगा-वही इस उत्तम गति को प्राप्त होगा।

बुद्धिवाद, अर्थात् तर्क और युक्ति का जहां तक सम्बन्ध है, दर्शन शास्त्रों का वैदिक साहित्य में सर्वोच्च स्थान है। वैदिक

साहित्य ही क्यों, यदि यह कहा जाय कि दर्शन शास्त्र संसार मे प्रचलित बुद्धिवाद के उद्गम हैं, तो कोई अत्युक्ति न होगी। दर्शनों में आज से हजारों वर्ष पूर्व जिन सूक्ष्म तत्वों पर विचार किया गया है वे अब भी पाश्चात्य विज्ञान की पहुँच से परे हैं। इनकी अद्भुत शृंखलाबद्ध तर्क शैली संसार को चकित किये बिना नहीं रह सकती। इन भारतीय बुद्धि-भंडार मे से कुछ रत्न जिनमें ईश्वर के स्वरूप पर विचार किया गया है, वेदान्त दर्शन से नीचे उद्धृत करते हैं।—

पत्युरसामञ्जस्यात्। वे० २।२।३७॥ सम्बन्धानुपपत्तेश्च।३८॥ अधिष्ठानानुपपत्तेश्च।३९॥ करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः।४०॥ अन्तवत्त्वमसर्वज्ञतावा।४१॥ उत्पत्त्य संभवात्।४२॥ न च कर्त्तुर्कः करणम्।४३॥ विज्ञानादिभावे तदप्रतिषेधः।४४॥ विप्रतिषेधाच्च। ४५॥

युक्ति शून्य होने से परमात्मा का साकार होना ठीक नहीं। ३७॥ साकार ईश्वर का जगत के उपादान प्रकृति के साथ सम्बन्ध न बन सकने के कारण भी उक्त 'साकारवाद' पक्ष ठीक नहीं। ३८॥ साकार वस्तु के लिये स्थान की आवश्यकता होती है, परन्तु परमात्मा का कोई एक स्थान नहीं अत. वह साकार नहीं। ३९॥ यदि परमात्मा को इन्द्रियों वाला माना जाय तो हमारी तरह उसे भी सुख दु.खादि भोग की आपत्ति होगी। अतः वह साकार नहीं।४०॥ यदि परमात्मा को देहधारी मानें तो अन्त वाला मानना पडेगा और असर्वज्ञ ठहरेगा। अल्पज्ञ मानने से वह परमात्मा नहीं हो सकता॥४१॥ ईश्वर का जन्म असम्भव होने से भी उक्त पक्ष की सिद्धि होती है॥४२॥ परमात्मा कर्ता के कोई करण (इन्द्रियादि) नहीं है॥४३॥ परमात्मा में सर्वज्ञादि धर्म पाये जाने से एक रस होने के कारण उसकी उत्पत्ति

नहीं हो सकती। ४४॥ साकार और निराकार दोनों का विरोध होने से निराकार परमात्मा साकार नहीं हो सकता। ४५॥
अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वाद्। ३।२।१४

निराकारता बोधक वाक्यों की प्रधानता पाए जाने से भी परमात्मा निराकार है।

तदव्यक्तमाहही। वे० ३।२।२३

निश्चय करके ब्रह्म को अव्यक्त कथन किया गया है।

अदृश्यत्वादिगुणकी धर्मोक्तेः। वे० १।२।२१॥

निराकारादि उसके धर्म कहे जाने से परमात्मा अदृश्यत्वादि गुणों वाला है।

ईश्वर-निराकारत्व विषयक वेदान्त दर्शन के जो सूत्र ऊपर दिये गये हैं वे किसी टीका टिप्पणी की अपेक्षा नहीं रखते। इन सूत्रों में विस्पष्टरूप में ईश्वर को निराकार सिद्ध किया गया है और उसकी सिद्धि मे अनेक तर्क पूर्ण युक्तियाँ दी गई हैं।

"ईश्वर-प्राप्ति का क्या साधन है?" इस विषय पर पतञ्जलि मुनि ने एक अपूर्व ग्रंथ की जो 'योग-दर्शन' के नाम से सुप्रख्यात है, पृथक ही रचना की है। इस दर्शन में चित्त की वृत्तियों को रोकना, अर्थात् बाह्य विषयों से चित्त को हटा कर जीव का अपने स्वरूप मे स्थित हो जाना इत्यादि, जीव तथा ईश्वर के योग (मिलाप) का साधन बताया गया है:—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। समाधिपाद ॥२॥ तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्॥३॥ योग चित्त की वृत्तियों के रोकने को कहते हैं।॥२॥ तब द्रष्टा (जीव) की अपने रूप में स्थिति हो जाती है॥३॥ विस्तारभय से यहाँ अधिक नहीं लिखा जा रहा। "मूर्ति पूजा और योग साधन," इस विषय पर इस पुस्तक में अन्यत्र एक पृथक अध्याय लिखा गया है। अतः इस सम्बन्ध में यहीं विचार किया जायगा।

मनुस्मृति—जो मानव धर्म शास्त्र के नाम से सुप्रसिद्ध है आर्य जाति की एक अमूल्य निधिहै। भगवान मनुने जिन वैयक्तिक सामाजिक, राजनैतिक कर्तव्याकर्तव्य कर्मों का सार्वभौमिक रूप में इस ग्रन्थ में उपदेश दिया है, वे आज भी मनुष्य समाज के पथ प्रदर्शन की क्षमता रखते हैं। मनुस्मृति के आरम्भ में ही सृष्टि-उत्पत्ति-विषय पर विचार करते हुए ईश्वर के स्वरूप का सक्षिप्त वर्णन किया गया है। यहाँ पर भी परमात्मा को अचिन्त्य अप्रमेय, अनादि, इन्द्रियातीत, परमसूक्ष्म, आकाररहित आदि उपलक्षणों वाला बताया गया है।

त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य निधानस्य स्वयभुवः। अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्य तत्त्वार्थ वित्प्रभो ॥ ३ ॥ अ० १।

क्योंकि सम्पूर्ण वेद के कार्य के यथार्थ प्रयोजन के जानने वाले आप (मनु) एक ही हैं। जो वेद कि अचित्य, अप्रमेय अनादि परमात्मा का विधान है ॥ ३ ॥

ततः स्वयंभूर्भगवान व्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्। महा भूतादिवृत्तौजा. प्रादुरासीत्तमोनुद. ॥ ६ ॥ योसाऽवतीन्द्रियग्राह्य. सूक्ष्मोऽव्यक्त. सनातन. सर्वभूतमयोऽचित्य' स एव स्वयमुद्‌वभौ ॥७॥ अ० १।

इस दशा के अनन्तर उत्पत्तिरहित और इन्द्रियों से न जानने योग्य प्रकृति को प्रेरणा करने वाले, महत्तत्व, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी आदि कारणों के बल से युक्त परमात्मा ने इनको प्रकाशित करके अपने को प्रकट किया ॥ ६ ॥ जोकि इन्द्रियो से नहीं जाना जाता और परमसूक्ष्म, नित्य, और सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त तथा आकार रहित, अतएव अचिन्त्य है, वही अपने आप प्रकट हुआ ॥ ७ ॥

इन श्लोकों में परमात्मा के प्रकट होने का अभिप्राय जगत अथवा विराट रूप मे प्रकट होने से है। इनकी शैली वैसी ही

अलंकारयुक्त है जैसी कि वेद के कुछ मंत्रों की पूर्व दी जा चुकी है। आगे के श्लोकों में इसी प्रकृति रूपी शरीर से सृष्टि-उत्पत्ति का सविस्तार वर्णन किया गया है। मनुस्मृति के छटवें अध्याय में भी योग द्वारा ही ईश्वर प्राप्ति का वर्णन किया है वैसे अनेक स्थलों पञ्चयज्ञादि नित्यकर्मों का सबको उपदेश किया गया है.-

सूक्ष्मतां चान्ववेक्षेत योगेन परमात्मनः। ६५। अ० ६॥

योग से परमात्मा की सूक्ष्मता का ध्यान करे।

प्रियेषु स्वेषु सुकृतम् प्रियेषु च दुष्कृतम्। विसृज्य ध्यानयोगेन ब्रह्माभ्येति सनातनम् ॥ ७६। अ० ६॥

अपने प्रिय में सुकृत और अप्रिय में दुष्कृत को छोड़कर ध्यानयोग से सनातन ब्रह्म को प्राप्त होता है

मनुस्मृति को आद्योपान्त पढ़ने पर सहज ही में कोई यह अनुमान लगा सकता है कि इस ग्रन्थ में बहुत कुछ पीछे से सम्मिश्रण किया गया है। इसमे इतने परस्पर विरोधी स्थल हैं जिन्हे देखकर दूसरों का हस्ताक्षेप स्पष्ट दृष्टिगत होता है। इस प्रकार यज्ञों में पशुबलि, मदिरा माँस भक्षण, जन्मगत वर्णव्यवस्था, मृतक श्राद्ध आदि वाममार्ग कालीन कुप्रथाओं का समर्थन परन्तु साथ ही उनके विरोध सूचक अनेक श्लोकों की विद्यमानता एवं प्रधानता इसके प्रबल प्रमाण हैं। इन प्रक्षिप्त भागों के होते हुए भी समस्त मनुस्मृति में मूर्तिपूजा अथवा अवतारवाद के समर्थन में एक भी श्लोक ढूंढे नहीं मिलता। अतः इस परिणाम पर पहुँचने में कोई कठिनाई नहीं रहती कि मूर्तिपूजा का जन्म-काल मनुस्मृति के प्रक्षिप्त-काल से भी कहीं पीछे का है। हाँ, पञ्चयज्ञविधि—संध्या, अग्निहोत्र आदि एवं ओङ्कार तथा गायत्री जाप को आवश्यक नित्यनैमित्तिक कर्म बताया है, जिससे

मूर्तिपूजा का, हमारी दैनिक विधि में, स्वयमेव खण्डन हो जाता है। मनुस्मृति के ऐसे कुछ श्लोक हम नीचे देते हैं :—

ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा।
नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत् ॥४।२१॥

संध्या, स्वाध्याय, अग्निहोत्र, बलिवैश्व, अतिथि, तथा पितृयज्ञ को यथाशक्ति कभी न छोडे और सदा करता रहे।

उत्थायावश्यकं कृत्वा कृतशौचः समाहितः।
पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत्स्वकाले चापरांचिरम् ॥४।९३

ब्राह्म मुहूर्त में उठकर और आवश्यक कार्य मलमूत्र त्याग आदि करके, शुद्ध और सावधान होकर प्रातः काल की और यथा समय दूसरे काल की सन्ध्या देर तक करे।

अग्निहोत्रं च जुहुयादाद्यन्ते द्युनिशोः सदा।
दर्शेन चार्द्धमासान्ते पौर्णमासेन चैव हि ॥४ २५॥

दिन और रात्रि के आदि में नित्य अग्निहोत्र करे और अर्ध-मास के अन्त में आमावास्या और पूर्णिमा को यजन करे।

मङ्गलाचारयुक्तः स्यात्प्रयतात्मा जितेन्द्रियः।
जपेच्च जुहुयाच्चैव नित्यमग्निमतन्द्रितः ॥४।१४५॥

उत्तम आचार से युक्त होकर, एवं संयत आत्मा तथा जितेन्द्रिय होकर नित्य निरालस्य होकर जप करे और अग्निहोत्र भी करे।

पूर्वां सन्ध्यांजपंस्तिष्ठेत्सावित्रीमार्कदर्शनात्।
पश्चिमांतु समासीन सम्यगृक्षविभावनात् ॥२।१०१॥

प्रातः काल की सन्ध्या, गायत्री का जाप करता हुआ, सूर्य-दर्शन होने तक स्थित होकर और सायंकाल की सन्ध्या नक्षत्र-दर्शन होने तक बैठकर करे।

ओंकारपूर्विकास्तिस्रोमहाव्याहृतयोऽव्ययाः।
त्रिपाच्चैवसावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणोमुखम् ॥२।८१॥

ओङ्कार से युक्त तीन अविनाशी महाव्याहृति और त्रिपदा गायत्री वेद का मुख है।

योऽधीतेऽहन्यहन्येतांस्त्रीणिवर्षाण्यतन्द्रितः।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूत. खमूर्तिमान् ॥२।८२॥

जो पुरुष प्रतिदिन आलस्यरहित होकर तीन वर्ष पर्यन्त ओं, व्याहृति और गायत्री का जप करता है, वह परब्रह्म को प्राप्त होता है और वायुवत शरीरबंधन से मुक्त हो जाता है।

ऊपर दिये गये वेद, उपनिषद् एव शास्त्रों के विविध उद्धरणों से यह भली प्रकार सिद्ध है कि ईश्वर निराकार है और इन्द्रियों का विषय नहीं है। तब उसकी प्रतिमा अथवा मूर्ति बन ही कैसे सकती है? इन उद्धरणों से यह भी सिद्ध है कि समस्त वैदिक साहित्य में मूर्तिपूजा को कहीं और किसी भी अवस्था में ईश्वर प्राप्ति का साधन नहीं बताया गया। अतएव वेदशास्त्रों के नाम पर जो लोग मूर्तिपूजा का प्रचार करते है, उन्होंने या तो उनका भलीभाँति अनुशीलन नहीं किया या फिर पक्षपात एवं स्वार्थवश सचाई पर पर्दा डालना चाहते हैं।

—★—

मूर्तिपूजा और अवतारवाद

जिस समय मूर्तिपूजा की कल्पना की गई उस समय यह भी आवश्यक हुआ कि ईश्वर को साकार सिद्ध किया जाय। क्योंकि बिना साकार सिद्ध किये उसकी मूर्ति अथवा प्रतिमा बन ही कैसे सकती है। अत उसकी पूर्ति ब्रह्मा-विष्णु-महेश, ईश्वर के तीन साकार रूप कल्पित करके की गई। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, यह एक ही ईश्वर के तीन गुणवाचक नाम हैं। परमात्मा सृष्टि रचता है, अत. उसका नाम ब्रह्मा, सृष्टि का पालन करता है, अत. विष्णु और संहार करता है, इसलिये महेश अथवा रुद्र है। यह तीनो कोई पृथक शरीरधारी ईश्वर अथवा उसकी साकार शक्तिया नहीं हैं, अपितु उपर्युक्त तीनों गुणों के आधार पर हम ईश्वर को तीनों ही नामों से पुकारते हैं।

इसी प्रकार वेदों में ईश्वर के अनेक गुणवाची नामों का वर्णन है। जिन्हें आगे चलकर लोगों ने अज्ञान-वश पृथक-पृथक ईश्वर अथवा देव समझ लिया। कवियो ने उनका गुणगान किया। चित्रकारों ने उनके चित्र बनाकर अपनी कला का परिचय दिया और अन्त में मूर्तिकारों ने उनकी मूर्तियाँ निर्माण करदीं। जहाँ तक कला का सम्बन्ध है, इसमें कोई दोप भी नहीं, किन्तु कालान्तर में जब स्वार्थ अथवा अज्ञान-वश इनकी जीवित महापुरुषों के समान भेंट-पूजा का प्रचार चल पड़ा और जन साधारण की सन्तुष्टि के लिये उनमे प्राण प्रतिष्ठा एव चमत्कारों का आरोप किया गया, उसी समय से उसका घोर दुरुपयोग प्रारम्भ हो गया।

वर्तमान हिन्दू समाज में अवतारवाद, निराकार परमात्मा को साकार बनाने की एक दूसरी कल्पना है। ईश्वर निराकार तो है किन्तु अवतार धारण करके साकार शरीरी भी बन जाता है, और जिन मूर्तियों की पूजा की जाती है, वे उनही अवतारों की प्रतिमूर्तियां हैं, ऐसा सर्वसाधारण का मत है। इस प्रकार देखा जाय तो अवतारवाद और मूर्तिपूजा का जुड़वाँ भाई बहन का सा घनिष्ट सम्बन्ध है और बहुत अंशों में यह एक दूसरे पर आश्रित हैं।

ईश्वर इस पृथ्वी पर शरीर धारण करके क्यों अवतरित होता है? उसे इसकी क्या आवश्यकता होती है? इसके लिये भी पुराणों में, जिनके लेखक ही वास्तव में मूर्तिपूजा के जन्मदाता हैं और जिनका समय भी मूर्तिपूजा की भाँति केवल कुछ हजार वर्ष ही है, अनेक रोचक कथाओं तथा उपाख्यानों द्वारा अनेक कल्पनायें की गई हैं। पुराणों में चौबीस, जिनमे मुख्य दस हैं, अवतारों की कल्पना की गई है। इनमे कुछ को छोड़कर सब ही को विष्णु का पूर्ण अथवा आंशिक अवतार माना गया है। कुछ अवतार नर रूप हैं, जैसे राम, कृष्ण, बुद्ध, शंकर इत्यादि और कुछ पशु रूप हैं, जैसे कच्छ, मच्छ तथा सूकर। किन्तु इन समस्त अवतारों में विष्णु की प्रधानता यह सिद्ध करती है कि इस वाद की कल्पना का सूत्रपात वैष्णवों द्वारा किया गया।

अवतारवाद के पक्ष में जो युक्तियाँ दी जाती हैं, वे बहुत निर्बल और लचर हैं। प्रथम तो निराकार और साकार एक वस्तु के दो विरोधी गुण हो ही नहीं सकते। ईश्वर या तो निराकार है या साकार। यदि उसका भी जीव की भाँति शरीर धारण करना मान लिया जाय, तो ईश्वर भी ईश्वर न रहकर जीव ही बन जाता है।

ईश्वर को क्या आवश्यकता अनुभव हुई. जिससे उसे शरीर धारण करना पड़ा ? इस प्रश्न के उत्तर में प्राय. गीता के प्रसिद्ध श्लोक जो हिन्दुओं में एक लोकोक्ति बन गये हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृज्याम्यहम् ।।७।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ।।८ अ० ४ ।

उद्धृत किये जाते हैं। इसी प्रकार श्रीमद्भागवत जो वैष्णव सम्प्रदाय का मूल ग्रंथ है, का निम्न श्लोक भी यही आशय प्रकट करता है.—

यदा यदा हि धर्मस्य क्षयोवृद्धिश्च पाप्मान् ।
तदातु भगवानीश आत्मानं सृजते हरि ।।५६।। स्कं० ६ अ० २४।

उपर्युक्त श्लोकों का यही भाव है कि जब-जब धर्म का क्षय होने लगता है और पाप बढ़ जाता है, तब-तब भद्रपुरुषों की रक्षा करने एवं धर्म के स्थापनार्थ परमात्मा अवतार लेता है। किन्तु देवी भागवत में जो शाक्त सम्प्रदाय का प्रसिद्ध मुख्य पुराण है इस युक्ति की तीव्र आलोचना की गई है:—

माया विमोहिता मन्दा प्रवदन्ति मनीषिणः ।
करोति स्वेच्छयाविष्णुरवताराननेकश. ।।४७।।
मन्दोऽपि दु.खगहने गर्भवासे ऽतिसंकटे ।
न करोति मतिं विद्वान् कथं कुर्य्यात् स चक्रभृत् ।।४८।।
कौसल्यादेवकीगर्भे विष्ठामलसमाकुले ।
स्वेच्छया प्रवदंत्यद्धागतो हि मधुसूदनः ।।४६।।
वैकुण्ठसदन त्यकत्वा गर्भवासे सुख नु किम् ।
चिन्ताकोटिसमुत्थाने दुःखदे विपसंमिते ।।५०।।
(देवी भागवत स्कं० ३ अ० २६)

अर्थात् माया से मोहित हुये मूर्ख विद्वान् कहते हैं कि विष्णु अपनी इच्छा से अवतार लेता है। मूर्ख मनुष्य भी दुःख से परिपूर्ण कष्ट युक्त गर्भवास की इच्छा नहीं करता पुनः वह चक्रधर विष्णु कैसे कर सकता है? लोग कहते हैं कि मलमूत्र से पूर्ण कौसल्या और देवकी के गर्भ में विष्णु स्वेच्छा से गया। भला वैकुंठ को छोड़ कर कोटि चिन्ताओं को उत्पन्न करने वाले कष्टदायक विषतुल्य गर्भवास में सुख ही क्या है?

इसीप्रकार अन्य पुराणों मे भी अवतार का कारण वर, शाप और शुभाशुभ कर्म बतलाया है। शरीर की उत्पत्ति के लिये जिन बातों की आवश्यकता है वह परमात्मा में नहीं घटतीं। आत्मा, देह, इन्द्रिय और मन के सम्बन्ध का नाम जन्म है। जन्म से सुख दुःख हुआ करता है। जन्म के लिये धर्माधर्म रूप कारण का होना, धर्माधर्म के लिये प्रवृत्ति, प्रवृत्ति के लिये रागद्वेष और रागद्वेष के लिये मिथ्याज्ञान होना आवश्यक है। परन्तु परमात्मा मे मिथ्या ज्ञान का सर्वथा अभाव है अतः उनका जन्म असम्भव है। महामुनि पतंजलि ने—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥यो०१।२४॥

अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश इन पांच क्लेशों से उत्पन्न होने वाले कर्म और कर्मफल एवं वासना से जो रहित है, वही ईश्वर है।— इस सूत्र में भी इसी बात को स्पष्ट किया है।

कुछ लोग समझते हैं कि जिस प्रकार जीवात्मा विना शरीर के कार्य करने मे असमर्थ है, उसी प्रकार ईश्वर भी विना शरीर धारण किये सृष्टि रचना नहीं कर सकता, किन्तु लोग भूल जाते हैं कि जीव एक देशीय है और ईश्वर सर्वव्यापक है। जो शक्ति प्रत्येक परमाणु के भीतर व्याप्त है, उसके लिये इन

परमाणुओं को गति देने के लिए किसी बाह्य करण अथवा अवयव की आवश्यकता नहीं। जीव को एक देशीय होने के कारण शरीरादि साधनों की आवश्यकता है किन्तु परमात्मा सर्वत्र व्यापक है, अत. उसे बाह्य साधन अपेक्षित नहीं।

वास्तव में यदि हम निष्पक्ष होकर विचारें तो अवतारवाद ईश्वर की महत्ता पर एक कलङ्क है, जो ईश्वर सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान है, उसे साधुओं की रक्षा और दुष्टो के विनाशार्थ जन्म मरण के बंधन में आने की आवश्यकता ही क्या है? जो परमात्मा रावण, कंसादि दुष्ट राक्षसों के जन्म देने की सामर्थ्य रखता है, क्या वह उनका बिना शरीर धारण किये विनाश नहीं कर सकता? बनाना बिगाडने से दुष्कर है। अत दुष्टों का विनाश करने के लिए उसका शरीर धारण करनेकी कल्पना ही सर्वथा निमूल एवं निराधार है। संसार का इतिहास साक्षी है कि प्रत्येक काल और प्रत्येक देश में दुष्ट आततायी होते रहते हैं और उनका राजा अथवा संसार के वीर पुरुषों द्वारा विनाश भी होता रहता है। इसके लिये ईश्वरावतार की आवश्यकता ही क्या है? कौनसा कार्य है जिसे ईश्वर बिना शरीर धारण किये नहीं कर सकता?

जो लोग राम, कृष्ण आदि महान् ऐतिहासिक पुरुषों को ईश्वरावतार बताते हैं, सत्य तो यह है कि जहाँ एक ओर वे इन्हें ईश्वरावतार बताकर उनके पराक्रमयुक्त कार्यों का महत्व घटाते हैं, वहाँ दूसरी ओर जन-साधारण को इनके इन कार्यों से प्रोत्साहन ग्रहण करने मे भी बाधक सिद्ध होते हैं। यदि राम ईश्वर हैं तो उनका कोई भी कार्य महत्त्वपूर्ण नहीं। ईश्वर केलिये तो यह कार्य नितान्त साधारण है। यही बात अन्य अवतारों के लिये भी कही जा सकती है। जब एक व्यक्ति यह देखता है कि

जो पराक्रम राम अथवा कृष्ण ने किये हैं, वे ईश्वरीय कार्य हैं,तो उसे उनके अनुकरण करने का साहस ही उत्पन्न नहीं होता। वह अपने को एक तुच्छ जीव समझ कर अपनी असमर्थता का अनुभव करता है। अवतारवाद का सिद्धान्त, मूर्तिपूजा की भाँति ही हिन्दुओं को नपुंसक बनाने में बहुत कुछ सहायक सिद्ध हुआ है। इसी का परिणाम है कि संसार की जातिया अपने बाहुबल से कहीं की कहीं पहुँच गई, किन्तु अभागी हिन्दू जाति हाथ पर हाथ रक्खे कल्कि अवतार की आज भी बाट देख रही है। इस प्रकार इस 'वाद' से लाभ के स्थान पर एक ऐसी हानि हो रही है जिसकी पूर्ति बिना इस मिथ्या विचार को हटाये नहीं हो सकती।

वेद उपनिषद्, शास्त्र सभी ईश्वर को अजन्मा एवं निर्विकार प्रतिपादन करते हैं। सब ही उसको जीवन मरण के बंधन से मुक्त बताते हैं:—

अजो नक्षा दाधार पृथ्वीं तस्तम्भ द्यां मन्त्रेभि. सत्यैः। प्रिया पदानि पश्वो निपाहि विश्वायुरग्ने गुहा गुहंगा। ऋ०१।६७।३

अर्थ:—जैसे अज अर्थात् न जन्म लेने वाला अजन्मा परमेश्वर न टूटने वाले विचारों मे पृथिवी को धारण करता है, विस्तृत अन्तरिक्ष तथा द्यौलोक को पकडे हुए है। प्रीतिकारक पदार्थों को देता है। सम्पूर्ण आयु देने वाला, बन्धन से सर्वथा छुड़ाता है। बुद्धि में स्थित हुआ वह गोप्य पदार्थ को जानता है। वैसे तू भी हे विद्वान् जीव हमें प्राप्तव्य की प्राप्ति करो।

शन्नो अज एक पादेवोऽस्तु शन्नोऽहिर्बुध्न्य. शं समुद्र'।
शन्नो अपां नपात्पेरुरस्तु शंन. पृश्निर्भवतु देवगोपाः॥
ऋ० ७।३५।१३।

एक पात् अन्जमा परमात्मा हमारे लिये कल्याणकारी होवे। अन्तरिक्ष में होने वाले मेघ हमारे लिये कल्याणकारी हों। समुद्र सुखदायी हो। पाद रहित होकर जलों को पार करने वाली अर्थात नौका आदि हमारे लिये सुखकारक हों। सूर्यादि की रक्षा करने वाला अन्तरिक्ष हमारे लिये सुखकारी हो।

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तर जायमानो वहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भु वनानि विश्वा॥
यजु० ३१। १६॥

अपने स्वरूप से उत्पन्न न होने वाला अजन्मा परमेश्वर, गर्भस्थ जीवात्मा और सब के हृदय में विचरता है। और बहुत प्रकारों से विशेष कर प्रकट होता है। उसके स्वरूप को धीर लोग सब ओर देखते है। उसमें सब लोक लोकान्तर स्थित हैं।

ब्रह्म वा अज.। शतपथ० ६। ४। ४। १५।

ब्रह्म ही अजन्मा है।

उपनिपदों मे भी परमात्मा को स्थान-स्थान पर अजन्मा वर्णन किया गया है —

वेदाहमेतमजर पुराण सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात्।
जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य ब्रह्म वादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम्।
श्वे० ३। २१॥

मैं उस ब्रह्म को जानता हू जो पुराना है और अजर है। सब का आत्मा और विभु होने से सर्वगत है। ब्रह्मवादी जिसके जन्म का अभाव वतलाते हैं क्योंकि वह नित्य है।

एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुवं।
विरज. पर आकाशादज आत्मा महान् ध्रुवः॥
वृ० ४।४। २७

इस अविनाशी अप्रमेय ब्रह्म को एक ही प्रकार से देखना

चाहिए, यह मल से रहित, आकाश से परे, जन्म रहित आत्मा महान् और अविनाशी है।

दिव्योह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरोह्यजः।

अप्राणोह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः॥ मुण्ड० २।१।

वह दिव्य पुरुष बिना मूर्ति के है, बाहर और अन्दर दोनों जगह विद्यमान है। बिना प्राण और मन के है। शुभ्र है और अव्यक्त प्रकृति के परे है।

अजं ध्रुवं सर्वतत्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥

श्वे० २।४

अजन्मा ध्रुव सारे तत्वों से अलग परमात्मदेव को ब्रह्म तत्वदर्शी जानकर पाशों से छूट जाते हैं।

स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म।

बृ० ४।४।२५॥

वह महान अजन्मा आत्मा अजर, अमर, अभय, अमृत ब्रह्म है।

दर्शन शास्त्र भी परमात्मा को अजन्मा ही बताते हैं:—

उत्पत्यसंभवात्। वेदान्त।२।२।३६॥

ईश्वर के जन्म का असंभव पाए जाने से उसका कोई कर्त्ता नहीं।

न च कर्त्तुः करणं। वे० २।२।४०

और न उस कर्त्ता परमात्मा का कोई करण इन्द्रियादि है।

करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः। वे० २।२

इस पर श्री स्वा० शंकराचार्य का भाष्य देखने योग्य है:—

लोकदृष्ट्यनुसारेण ईश्वरस्यापि किञ्चित्करणं नामायनं शरीरं कामेन कल्प्यते। एवमपि नोपपद्यते। स शरीरत्वे हि सति संसारी वद् भोगत्वप्रसंगादीश्वरस्याप्यनीश्वरत्वं प्रसज्येत्।

अर्थात् लोक दृष्टि के अनुसार परमात्मा का भी इन्द्रियों का अधिष्ठान यदि शरीर माने तो ठीक नहीं क्योंकि ईश्वर के शरीर वा इन्द्रियादि मानने से उसे भी संसारी जीवों की तरह सुख दुःख भोक्ता मानना पड़ेगा और ऐसा मानने से ईश्वर भी अनीश्वर हो जायगा।

अवतारवाद के खंडन में जितने भी प्रमाण यहां उद्धृत किये गये हैं, वे किसी टीका टिप्पणी की अपेक्षा नहीं रखते। समस्त प्राचीन वैदिक साहित्य इस वाद का सर्वथा निषेध करता है। अत सिद्ध है कि वैदिक काल से बहुत पीछे जब मूर्ति पूजा की सृष्टि की गई तो ईश्वर को साकार सिद्ध करने के लिये अवतारवाद की कल्पना की गई।

कुछ लोग वेद शास्त्रों में 'मूर्तिपूजा न करो' अथवा 'ईश्वर अवतार नहीं लेता' इस प्रकार के विरोध सूचक स्पष्ट मंत्रों का अभाव बताकर यह भ्रम उत्पन्न करने का प्रयत्न करते हैं कि यदि वेद शास्त्रों में इनका समर्थन नहीं है तो विरोध भी नहीं है। किन्तु लोग यह भूल जाते हैं कि किसी वस्तु का स्पष्ट निषेध, उसके प्रचार के पीछे उसके दोष देखकर ही सम्भव है। जब जो वस्तु प्रचलित ही नहीं थी, तब उसका निषेध कैसा ? जैसा कि हम सिद्ध कर चुके हैं, मूर्तिपूजा और अवतारवाद का जन्म काल वैदिक काल से बहुत पीछे का है। अतएव यदि वैदिक साहित्य में उनका स्पष्ट विषेध अथवा विशेष खंडन नहीं है, तो इसमें न कोई आश्चर्य है और न कोई दोष है।

—x—

मूर्तिपूजा और वहुदेवतावाद

मूर्तिपूजा का एक अन्य आधार वहुदेवतावाद की कल्पना भी है। जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं, वेदों में ईश्वर के अनेक गुण वाची नामों का उल्लेख है। लोगों ने भूल से उनमें पृथक-पृथक देवों की कल्पना करली और उनकी मूर्तियाँ वना कर पूजी जाने लगीं।

भारतवर्ष के धार्मिक साहित्य मे 'देव' शब्द को न समझने से अनेक भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो गई हैं। 'देव' शब्द 'दिवु' धातु से वना है जिसके अनेक अर्थ हैं:—क्रीड़ा, व्यवहार, द्युति, मोद, स्वप्न, विजिगीषा, स्तुति, मद, कान्ति तथा गति। इस प्रकार कोई भी पदार्थ जो उपयुक्त अर्थवाचीहै 'देव' है। वैदिक संस्कृत में एक-एक शब्द अनेकार्थ वाची था किन्तु दीर्घ कालान्तर में वह रुढ़ि और एकार्थवाची वन गया। 'देव' शब्द भी उन्हीं मे से एक है। देव के उपरिलिखित अर्थों में एक अर्थ 'द्युति'—'प्रकाश युक्त' भी है, अतः जहाँ इसका अर्थ 'ईश्वर' तथा 'विद्वान्' वाची हुआ वहाँ 'सूर्य', 'चन्द्र' आदि प्रकाशयुक्त जड़ पदार्थ भी होता है। प्राचीन वैदिक निरुक्तकार यास्काचार्य ने 'देव' शब्द के निम्नार्थ किये हैं:—

देवो दानाद् वा, दीपनाद् वा, द्योतनाद् वा, द्युस्थानो भवती-

ति वा । निरुक्त अ० ७, खं० १५ ॥

'जो देता है वा प्रकाश करता है वा प्रकट करता है अथवा जो प्रकाश का पुञ्ज है, वह देव है'। इस प्रकार दानदाता देव है। सत्युपदेष्टा आचार्य विद्वान्, माता-पिता देव हैं। सूर्य, चन्द्रादि प्रकाश युक्त लोक भी देव हैं। स्वामी दयानन्द ने ऋग्वेदादि-भाष्य भूमिका, 'वेद विषय विचार' के अन्तर्गत 'देव' शब्द के अनेक अर्थ लिखे है .—

अत्र परिगणनं गायत्र्यादिच्छन्दोन्विता मन्त्रा ईश्वराज्ञा यज्ञः यज्ञाङ्ग' प्रजापति' परमेश्वर. नराः कामः विद्वान्, अतिथिः माता पिता आचार्य्यश्चेति कर्मकाण्डादीन्प्रत्येता देवता सन्ति।

गायत्र्यादि छन्दों से युक्त मंत्र, ईश्वराज्ञा, यज्ञ और उनके अङ्ग, राजा, परमेश्वर, मनुष्य, काम, विद्वान्, अतिथि, माता पिता और आचार्य।

एक स्थान पर यजुर्वेद में इन्द्रियों को देव कहा है :—

नैनद् देवा आप्नुवन्। यजुर्वेद ४०।४॥

इन्द्रियाँ उस परमेश्वर तक नहीं पहुँच सकती।

अतः जब देव शब्द के अनेक अर्थ हैं, तो वेदों में इसे बहुवचन में प्रयुक्त हुआ देखकर यह कहना कि वेदों से 'बहु-देवतावाद' सिद्ध होता है, सर्वथा अनुचित है।

वेदों में सूर्य, चन्द्र, बिजली, पृथ्वी आदि जड़ पदार्थों के लिये देव शब्द प्रयुक्त हुआ देखकर, लोगों ने यह धारणा बनाली कि वेदों में इनकी पूजा का विधान है। किन्तु वास्तविकता यह है कि इन स्थलों पर उनकी पूजा का संकेत मात्र भी नहीं है। जब देव के अर्थ केवल ईश्वर अथवा किसी दिव्य पदार्थ के अधिष्ठातृ-देव यथा—मेघ का इन्द्र, जल का वरुण, सूर्यलोक का सूर्यदेव, इत्यादि निश्चित रूप से समझे जाने लगे

तो लोगों को यह भ्रम उत्पन्न हो गया कि वेदों में बहुदेवतावाद और उन देवों की पूजा का विधान है। आगे चलकर इसी कल्पना के आधार पर उन-उन देवों की मूर्तियां बनाली गईं और उनकी पूजा प्रारम्भ हो गई। किन्तु जैसे-जैसे मूर्तिपूजा आय का एक अच्छा साधन सिद्ध होने लगी वैसे-वैसे प्रत्येक प्राकृतिक वस्तु का एक पृथक् अधिष्ठातृ-देव कल्पित कर लिया गया और उस देव की मूर्ति निर्माण करके उसकी पूजा प्रचलित कर दी गई। जन साधारण हिन्दुओं की आज भी यह धारणा है कि नदी, पहाड़, अग्नि, वायु आदि समस्त प्राकृतिक जड़ पदार्थों के पृथक्-पृथक् अदृश्य अधिष्ठातृ देव हैं। पुराणों में इनकी पूजा का स्थान स्थान पर वर्णन है। किन्तु यह अधिष्ठातृ देव क्या हैं, कैसे हैं और कहाँ हैं ? इसकी कभी कोई जानने की चिन्ता नहीं करता। क्या आत्मा की भांति उनकी कोई चेतन सत्ता है ? निश्चय ही उनकी कोई चेतन सत्ता होनी चाहिए, क्योंकि जड़ वे हो नहीं सकते। फिर क्या वह ईश्वर की भाँति सर्वज्ञाता, सर्वशक्तिमान् और कर्म-फल दाता हैं ? यदि उन्हें सर्वज्ञाता, सर्वशक्तिमान् और कर्म फल दाता मान लिया जाय तो फिर इनमें और ईश्वर में क्या भेद है ? अथवा वे अजर अमर हैं ? इत्यादि प्रश्नों का कोई निश्चयात्मक उत्तर नहीं दिया जा सकता।

पुराणों में साधारण मनुष्यों की भाँति देवों का पारस्परिक युद्ध, ईर्षा, द्वेष पूर्ण अनेक कथाओं का वर्णन है, जो बहुदेवता वाद का स्वाभाविक परिणाम है। कुछ लोगों की धारणा है कि जिस प्रकार राज्य प्रबन्ध के लिये अनेक कर्मचारियों की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार सृष्टि को नियम में रखने के लिये अनेक देवताओं की आवश्यकता है। किन्तु यह भ्रम

ईश्वर की सर्वव्यापकता तथा सर्वशक्तिमत्ता को न समझने से ही उत्पन्न होता है। राजा एक देशीय होने से सर्वज्ञाता नहीं है और अल्प शक्ति रखने के कारण प्रजा पर अकेला शासन भी नहीं कर सकता, अत. उसे अपनी सहायता के लिये अनेक राज्य-कर्मचारियों की आवश्यकता होती है। किन्तु ईश्वर सर्वव्यापक होने से सब कुछ जानता है और सर्वशक्तिमान होने से उसे अपने कार्य के लिये किसी अन्य शक्ति की सहायता की आवश्यकता नहीं।

अब प्रश्न यह है कि जब वेदों मे इन देवों की पूजा का कहीं विधान नहीं है तो फिर यह भ्रम कैसे उत्पन्न हो गया? जैसा कि हम पूर्व लिख चुके हैं, वैदिक भाषा में एक शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता था, किन्तु आगे चलकर उनके अर्थ सीमित हो गये और वेद मंत्रों के कुछ के कुछ अर्थ समझे जाने लगे। इसी प्रकार ईश्वर के भी अनेक गुण होने से उसके अनेक गुणवाची नामों का वेदों में उल्लेख है। ऋग्वेद में कहा भी है :—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यस्स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।
ऋग० १।१६४।४६॥

एक सद्वस्तु परमात्मा को इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान, यम तथा मातरिश्वा आदि नाम देते हैं। अर्थात इन नामों से उस एक ही वस्तु का वर्णन होता है।

यजुर्वेद मे ईश्वर को अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा तथा शुक्र आदि कहा गया है :—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आप. स प्रजापतिः॥ य० ३२।१

अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, आप., प्रजापति इन शब्दों द्वारा परमात्मशक्ति का बोध होता है। अर्थात् प्रकाश स्वरूप होने से उस परमात्मा का नाम अग्नि, कभी विनाश न होने से आदित्य, जगत् का धारण तथा जीवन होने से वायु, आनन्द स्वरूप होने से चन्द्रमा, अत्यन्त पवित्र होने से शुक्र, सबसे बड़ा होने से ब्रह्म तथा प्रजा का पालन करने से प्रजापति है। इस प्रकार स्वयं वेदों से अनेक प्रमाण दिये जा सकते हैं, जिनमें ईश्वर के लिये अनेक ऐसे नाम प्रयुक्त हुए हैं, जिनका जीवधारी मनुष्य, एवं प्राकृतिक पदार्थों के लिये भी प्रयोग होता है। किन्तु दुर्भाग्यवश हमने उनको अनेक देवता समझ लिया और ईश्वर के स्थान में उनकी पूजा प्रारम्भ करदी। आज भी हम ईश्वर को माता, पिता, बन्धु सखा आदि अनेक नामों से सम्बोधन करके उसकी प्रार्थना करते हैं किन्तु उससे यह भ्रम किसी को नहीं होता कि हम अपने माता, पिता, बन्धु आदि की स्तुति अथवा प्रार्थना कर रहे हैं। इसी प्रकार वेदों में जहाँ-जहाँ सूर्य, चन्द्र, वरुण इन्द्र, अग्नि, वायु आदि की स्तुति, प्रार्थना का प्रसङ्ग है, वहाँ उससे तात्पर्य परमात्मा की स्तुति प्रार्थना ही समझना चाहिए, जड़ जगत् की वस्तु नहीं।

वेदों में केवल एकेश्वरवाद का ही प्रतिपादन है, इसे आज योरुप के विद्वान् भी स्वीकार करने पर विवश हुए हैं और सायणाचार्य आदि वेद भाष्यकारों की शैली तक का, जिसके आधार पर बहुत से पश्चिमी विद्वान् वेदों में बहुदेवतावाद की प्रतिच्छाया देखते हैं, खंडन करते हैं।

मिस्टर राथ ने अपने प्रसिद्ध कोष के पहिले भाग के ४-६ पृष्ठों से जो लिखा है उसका सार हम नीचे देते हैं:—

वह लिखते हैं, वेदार्थ का उद्देश्य सायणादि कृत अर्थों का ग्रहण करना नहीं है अपितु उन अर्थों का जो वैदिक ऋषियों के मन में थे, ढूंढ़ निकालना है। सायणादि अपने समय के विचारों के प्रतिविम्ब वेदों में देखते हैं--सत्य वेदार्थ प्राय: सभी विद्वान् चिरकाल से भूल गये थे, अत: अपने-अपने समय के धार्मिक विचारों का समावेश वेदार्थ में करते आये हैं। इसी प्रकार मि० ह्विटनी (whetenay), जे० म्यूर (J Muir) तथा वैबर (weber) ने अपने ग्रन्थों में राथ के उपर्युक्ति विचारों का समर्थन किया है।

भारतवर्ष के धार्मिक जगत् में युगान्तर उपस्थित करने वाले वीसवीं शताब्दि के प्रसिद्ध सुधारक तथा वेद भाष्यकार स्वामी दयानन्द ने तो अपने वेद भाष्य तथा ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में प्रवल प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया है कि वेदों में केवल एक ईश्वर पूजा का ही प्रतिपादन है और बहुदेतदावाद का सर्वथा निषेध है। इसी प्रकार वर्तमान समय के प्रसिद्ध विचारक श्रीयुत् अरविंद घोष ने स्वा० दयानन्द और सायणाचार्य की भाष्य शैली की तुलनात्मक समालोचना करते हुए स्वा० दयानन्द का समर्थन किया है और लिखा है —

"यहाँ स्वा० दयानन्द का विचार बिल्कुल स्पष्ट और अखंडनीय है कि वेद एकेश्वरवाद का प्रतिपादन करते हैं जिसके प्रमाण "एकं सद्विप्रावहुधा वदन्ति" इत्यादि सहस्त्रों वेद मंत्र हैं, जो सारे वेद में स्थान-स्थान पर पाये जाते हैं। इत्यादि-इत्यादि।

परमात्मा एक ही है, इस विषय की पुष्टि में कुछ स्पष्ट वेद मंत्र नीचे उद्धृत किये जाते हैं:—

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते।१६।।

न पंचमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते।१७।।

नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते ।१८॥

ईश्वर न दूसरा है न तीसरा है न ही चौथा कहलाता है ।१६।
न पाँचवा है, न छटा है, न सातवाँ ही कहलाता है ।१७॥
न आठवाँ है न नवाँ है न ही दसवाँ कहलाता है ।१८॥

तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव । अथर्व० १३।४

वह सर्व शक्ति है, वह एक है, एकवृत और एक है ।

मूर्तिपूजा और रामायणकाल

रामायणकाल का ठीक-ठीक समय निश्चय करने में तो इतिहासिकों में मतभेद हो सकता है; किन्तु यह सर्वमान्य है कि रामायण में वर्णित ऐतिहासिक घटना महाभारत से दीर्घकाल पूर्व घटी। यह वह समय था जब वैदिक मर्यादा तथा आर्य-संस्कृति का लोप नहीं हुआ था। किन्तु इतना स्पष्ट है कि मासाहार, सुरापान आदि आसुरी प्रवृत्तियों का सूत्रपात होगया था। वैदिक कर्म काण्ड में प्रवृत ऋषि, मुनियोंके यज्ञों को मासादि अपवित्र वस्तुओं से विध्वंस करने की दुष्ट चेष्टा प्रारम्भ हो गई थी। यदि देखा जाये तो इन्हीं वैदिक यज्ञों एवं संस्कृति की रक्षार्थ उस समय जो कुछ प्रयत्न किया गया, वही रामायण की कथा का मुख्य कथानक है।

इस समय रामायण सम्बन्धी जितनी भी सामग्री अनेक ग्रन्थों के रूप में उपलब्ध है, उस सबका आधार, ऋषि वाल्मीकि कृत रामायण ही है। किन्तु आज जितनी भी वाल्मीकि रामायणें मिलती हैं उनके काण्ड, सर्ग और श्लोक -संख्या- विभिन्नता तथा अनेक अप्रासंगिक एवं प्रकृति नियम विरुद्ध स्थलों को देखते हुए यह सब ही मानते हैं कि अन्य ग्रन्थों की भाति इस ग्रन्थ में भी प्रक्षिप्त सामग्री की न्यूनता नहीं है। इस समय वाल्मीकि रामायण की दो प्रकार की प्रतिया मिलती हैं, एक गौड़ वा बंग देश की और दूसरी बम्बई की। बम्बई की प्रति में बंग

देश की प्रति से एक कांड (उत्तरकाण्ड) ६३ सर्ग तथा ४७२५ श्लोक अधिक है। इटली भाषा में संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् गौरीसियो (Gorresco) कृत रामायण का जो अनुवाद मिलता है, उसमें भी उत्तरकाण्ड रहित केवल छ: काण्ड है। इसी प्रकार चम्पू रामायण जो महाराज भोज के समय बनी थी और जिसमें वाल्मीकि रामायण का सार लिखा है, युद्धकाण्ड तक ही है। युद्ध काण्ड समाप्ति पर स्वयं वाल्मीकीय-रामायण में रामायण का माहात्म्य वर्णन किया गया है जो कि किसी ग्रन्थ के आदि या अन्त में ही लिखा जाता है, सिद्ध करता है कि उत्तरकाण्ड का समावेश पीछे से किया गया है।

इस प्रकार उपर्युक्त स्पष्ट प्रक्षिप्त भागों के होते हुए भी समस्त रामायण में सर्वत्र केवल वैदिक यज्ञों का वर्णन है, मूर्तिपूजा का कहीं कोई उल्लेख नहीं है। मनुस्मृति की भाँति वाल्मीकि रामायण में भी मांसाहार एवं यज्ञ में पशुबलि दीजाने की पुष्टि तो कुछ प्रक्षिप्त श्लोकों द्वारा अवश्य की गई है, जिसमें वाममार्ग का स्पष्ट हाथ दृष्टिगोचर होता है, किन्तु मूर्तिपूजा विषयक् श्लोकों का सर्वथा अभाव, यह सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है कि जिस समय में यह प्रक्षिप्त भाग मिलाये गए, उस समय में भी इस देश में मूर्तिपूजा जारी नहीं हुई थी। अत: हमारी यह धारणा कि मूर्तिपूजा का प्रचार इस देश में बौद्ध काल से पूर्व नहीं था, निराधार नहीं है।

वाल्मीकीय रामायण के उत्तरकाण्ड से निम्न श्लोक मूर्तिपूजा के पक्ष में प्राय: उपस्थित किया जाता है :—

यत्र यत्र स्मयातिस्म रावणो राक्षेश्वर: ।
जाम्बूनदमयं लिंगं तत्र तत्रस्म नीयते ॥

रावण जहाँ-जहाँ जाता था, अपने साथ सुवर्णमय लिङ्ग ले

संध्या काल में मनवाली देवी सीता संध्या करने के लिए इस शुभजल वाली नदी पर आवेगी। यदि वह चन्द्रमुखी देवी जीवित है तो इस शीतल जलवाले सुरम्य सरोवर पर अवश्य आवेगी।

उपर्युक्त समस्त उद्धरण इतने स्पष्ट हैं कि किसी टीका-टिप्पणी की अपेक्षा नहीं रखते। इनसे सिद्ध है कि रामायण-काल वेदप्रतिपादित यज्ञादि का काल था और उसमें कहीं भी मूर्तिपूजा के लिए कोई स्थान नहीं।

कैसे आश्चर्य की बात है कि भगवान् राम स्वयं संध्योपासना और अग्निहोत्र करें किन्तु उनके भक्त उनकी मूर्तिपूजा करके अपने आपको कृतकृत्य समझें। भगवान् बुद्ध के भक्तों ने भी उनके आदेशों पर न चलकर उनकी मूर्ति की पूजा प्रारम्भ कर दी थी। परन्तु बौद्ध नास्तिक थे, उनके समक्ष उनका कोई उपास्य देव नहीं था, अत उन्होंने यदि ऐसा किया तो अस्वाभाविक नहीं है। दुःख तो राम के भक्तों पर है, जिन्होंने आस्तिक होते हुए भी राम के आदर्शों को न अपनाकर उनके स्थान पर उनकी मूर्ति की पूजा प्रचलित करदी।

तुलसीकृत रामायण में कुछ स्थलों पर मूर्तिपूजा का वर्णन, श्री तुलसीदास जी की अपनी निजी कल्पना है। वह स्वयं वैष्णव थे, अतः यह स्थल केवल उनके अपने विचारों के ही प्रतिबिम्ब हैं, उनका आधार वाल्मीकिकृत रामायण नहीं। न सीता जी ने स्वयंवर के समय देवी की जाकर पूजा की और न राम ने सेतुबन्ध के अवसर पर रामेश्वर में शिवलिङ्ग की स्थापना अथवा पूजा की। वाल्मीकीय रामायण में इतना वर्णन है कि लंका से विमान द्वारा लौटते समय राम ने सीता से संकेत करके कहा कि यहां महादेव की कृपा से हमने समुद्र का पुल बाँधा था :—

एतत्तु दृश्यते तीर्थं सागरस्य महात्मनः ।
सेतुबन्ध इतिख्यातं त्रैलोक्यपरिपूजितम् ॥२०॥
एतत्पवित्रं परमं महापातकनाशनम् ।
अत्र पूर्वं महादेवः प्रसादमकरोद्विभुः ॥२१॥
(युद्ध काण्ड सर्ग १२५)

यह बड़े समुद्र का तट दिखाई पड़ रहा है, इसे सेतुबंध कहते हैं, यह तीन लोक में प्रसिद्ध है। यह परम पवित्र स्थान है, यहाँ पापी महापातकों का प्रायश्चित करते हैं। यहाँ ही सर्वव्यापक, देवों में बड़े, महादेव परमात्मा ने हम पर कृपा की। उपरोक्त श्लोकों में कहीं भी शिवलिङ्ग स्थापना तथा उसके पूजन की बात नहीं है। सम्भवतः महादेव शब्द, जिसके अर्थ देवों में महान्-परमात्मा है, को देखकर तुलसीदास जी ने शिवलिङ्ग स्थापना एवं उसकी पूजा की कल्पना करली।

जैसा कि हम पूर्व लिख चुके हैं मूर्तिपूजा तथा अवतारवाद का आधार आधेय सम्बन्ध है; किन्तु वाल्मीकीय रामायण से राम का ईश्वरावतार होना भी सर्वथा असिद्ध है। समस्त रामायण में राम को कहीं भी ईश्वरावतार नहीं लिखा। हाँ कहीं-कहीं, विष्णु के समान अथवा विष्णु का अंश अवश्य लिखा है। किन्तु यदि हम विचारपूर्वक इन स्थलों को देखें तो यह पीछे से मिलाये हुए प्रतीत होते हैं। अन्यथा स्वयं भगवान् राम ने अनेक स्थानों पर अपने आपको मनुष्य ही उद्घोषित किया है। रामचन्द्र सीता से कहते हैं—

या त्वं विरहिता नीता चलचित्तेन रक्षसा।
दैव सम्पादितो दोषो मानुषेण मया जितः॥५॥

जो तू चलायमान चित्त वाले राक्षस रावण से हरली गई थी, यह दैवकृत दोष था, जो मुझ मनुष्य ने जीत लिया।

यत्कर्त्तव्यं मनुष्येण धर्षणा प्रतिमार्जिता ।
तत्कृतं रावणं हत्वा मयेदं मानकांक्षिणा ॥१३॥
(युद्ध का० सर्ग ११५)

शत्रु द्वारा किये गये अपमान को मिटाने के लिये मनुष्य को जो कुछ करना चाहिये वह मैंने मान चाहते हुए रावण को मार कर किया ।

आत्मानं मानुषं मन्ये रामं दशरथात्मजम् ॥१३॥
(युद्ध कां० स० ११७)

मैं अपने को मनुष्य समझता हूं, मैं दशरथ-पुत्र राम हूँ ।

इसी प्रकार ऋषि नारद ने वाल्मीकी मुनि से राम के गुण वर्णन करते हुए कहा कि राम पराक्रम में विष्णु के समान हैं, यह नहीं कहा कि विष्णु हैं अथवा विष्णु अवतार हैं:—

आर्य्यः सर्वसमश्चैव सदैक प्रियदर्शनः ।
स च सर्वगुणोपेत् कौशल्यानन्दवर्धनः ॥१६॥
समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवानिव ।
विष्णुना सदृशो वीर्ये सोमवत् प्रियदर्शनः ॥१७॥
बालकाण्ड स० १

वह आर्य हैं, वह सबको समान दृष्टि से देखने वाले हैं। वह सब गुणों से युक्त कौशल्या के आनन्द को बढ़ाने वाले हैं गम्भीरता में समुद्र के समान हैं, धैर्य में हिमालय की तरह, पराक्रम में विष्णु के समान और प्रिय दर्शन में चन्द्रमा के तुल्य हैं।

सीता के वियोग पर राम ने जो विलाप किया वह भी उनको ईश्वरावतार सिद्ध न करके मनुष्य ही सिद्ध करता है । इस विलाप का वाल्मीकीय रामायणमें बड़ा करुणाजनक वर्णन है

विस्तारभय से समस्त श्लोक न देकर कुछ थोड़े नीचे उद्धृत किये जाते हैं:—

एवं सविलपन् रामः सीताहरणकर्षितः।
दीनः शोकसमाविष्टो मुहूर्तं विह्वलोऽभवत् ॥ २९ ॥
सन्तप्तो ह्यवसन्नाङ्गो गतबुद्धिर्विचेष्टितः।
निषसादातुरो दीनो निःश्वस्याशीतमायतम् ॥ ३० ॥
आ० का० सर्ग ५९

इस प्रकार विलाप करते और सीता हरण से दुःखी हुए दीन, शोक युक्त राम थोड़ी देर के लिये व्याकुल हो गये। दुःख से कृश अंगों वाले निःसंज्ञ तथा चेष्टा रहित राम आतुर हो वहां उष्ण श्वास लेकर बैठ गये।

स राजपुत्रः प्रियया विहीनः कामेन शोकेन चपीड्यमानः।
विषादयन् भ्रातरमार्तरूपो भूयो विषादं प्रविवेश तीव्रम् ॥१ ॥
न मद्विधोदुष्कृतकर्मकारी मन्ये द्वितीयोऽस्ति वसुंधरायाम्।
शोकेन शोकोहि परम्परायां मामेति भिन्दन्हृदयं मनश्च ॥३॥
पूर्वं मया नूनमभीप्सितानि पापानि कर्माण्यसकृत्कृतानि।
तत्रायमद्यापततो विपाको दुःखेन दुःखं यदहं विशामि ॥४॥
राज्यप्रणाशः स्वजनैर्वियोगः पितुर्विनाशो जननी वियोगः।
सर्वाणि मे लक्ष्मण शोकवेगमापूरयन्ति प्रविचिन्तितानि ॥५॥

प्रिय विहीन तथा काम व मोह से पीड़ित दुःखित रूप वाले राजपुत्र राम अपने भाई (लक्ष्मण) को दुःखी करते हुए पुनः तीव्र दुःख में निमग्न हो गये। मैं यह जानता हू कि पृथ्वी पर मेरे समान अशुभ कर्म करने वाला दूसरा नहीं है। हृदय तथा मन को बींधता हुआ शोक पर शोक परम्परा से मुझे प्राप्त होता है।

निश्चय ही मैंने अनेक वार मन चाहे पाप किये हैं उन्हीं का फल यह आज मुझे प्राप्त हुआ है। जिससे मैं एक दु:ख से दूसरे दु:ख को प्राप्त होता हूँ। हे लक्ष्मण! राज्य का नाश घर वालों का छूटना, पिता का मरण, माता का वियोग ये सब मेरे शोक को बढ़ाते हैं।

इसी स्थल पर आगे राम ने मनुष्य की भाँति अनभिज्ञता प्रकट करते हुए कहा कि सम्भवत: राक्षसों ने सीता को मार कर खा लिया होगा। जटायु को पड़ा देखकर राम कहने लगे कि इसने सीता को खालिया है, इसमें संदेह नहीं है। अब यह सीता को खाकर सुख पूर्वक पड़ा है। मैं इसे बाणों से मारूंगा इत्यादि। वाल्मीकीय रामायण का यह समस्त स्थल इस बात को प्रबलरूप से सिद्ध करता है कि राम, मनुष्य थे। सीता-वियोग से व्यथित होना, अपने समस्त दु:खों का कारण अपने कृतपापों को बताना, एवं यह न जानना कि सीता को कौन ले गया और वह अब कहाँ है, जीवित है या मृत, ये सब ऐसे प्रमाण हैं, जो राम को ईश्वरावतार असिद्ध करने के लिये पर्याप्त हैं। यदि ऋषि वाल्मीकि रचित रामायण काल में राम को ईश्वर का अवतार माना गया होता तो रामायण में राम का इस प्रकार वर्णन न होता। अत: उपर्युक्त उद्धरणों से हमारे इस विचार की पूर्णरूप से पुष्टि होती है कि राम को उस काल में तथा पीछे बहुत समय तक कोई भी ईश्वरावतार नहीं मानता था।

इस प्रकार रामायण काल में न केवल मूर्तिपूजा ही अप्रचलित थी अपितु राम को ईश्वरावतार मानने की भावना भी प्रसारित नहीं हुई थी। यह समस्त कल्पनाएं वैष्णवादि सम्प्रदायों के प्रचार के पश्चात ही, पौराणिककाल में, इस देश में फैली हैं। एक ओर इस कल्पना ने ईश्वर को खींचकर अल्पज्ञ जीव

की कोटि में रख दिया दूसरी ओर राम को ईश्वर बताकर उनके आदर्शों को जनसाधारण के अनुकरण की वस्तु न छोड़ा। वे समझने लगे कि राम तो ईश्वर थे भला हम उनका क्या अनुकरण कर सकते हैं। इन वादों से इस देश को जो हानि पहुँची है उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

निश्चय ही मैंने अनेक वार मन चाहे पाप किये हैं उन्हीं का फल यह आज मुझे प्राप्त हुआ है। जिससे मैं एक दुःख से दूसरे दुःख को प्राप्त होता हूँ। हे लक्ष्मण! राज्य का नाश घर वालों का छूटना, पिता का मरण, माता का वियोग ये सब मेरे शोक को बढ़ाते हैं।

इसी स्थल पर आगे राम ने मनुष्य की भाँति अनभिज्ञता प्रकट करते हुए कहा कि सम्भवतः राक्षसों ने सीता को मार कर खा लिया होगा। जटायु को पड़ा देखकर राम कहने लगे कि इसने सीता को खालिया है, इसमें संदेह नहीं है। अब यह सीता को खाकर सुख पूर्वक पड़ा है। मैं इसे बाणों से मारूंगा इत्यादि। वाल्मीकीय रामायण का यह समस्त स्थल इस बात को प्रबलरूप से सिद्ध करता है कि राम, मनुष्य थे। सीता-वियोग से व्यथित होना, अपने समस्त दुःखों का कारण अपने कृतपापों को बताना, एवं यह न जानना कि सीता को कौन ले गया और वह अब कहाँ है, जीवित है या मृत, ये सब ऐसे प्रमाण हैं, जो राम को ईश्वरावतार असिद्ध करने के लिये पर्याप्त हैं। यदि ऋषि वाल्मीकि रचित रामायण काल में राम को ईश्वर का अवतार माना गया होता तो रामायण में राम का इस प्रकार वर्णन न होता। अतः उपर्युक्त उद्धरणों से हमारे इस विचार की पूर्णरूप से पुष्टि होती है कि राम को उस काल में तथा पीछे बहुत समय तक कोई भी ईश्वरावतार नहीं मानता था।

इस प्रकार रामायण काल में न केवल मूर्तिपूजा ही अप्रचलित थी अपितु राम को ईश्वरावतार मानने की भावना भी प्रसारित नहीं हुई थी। यह समस्त कल्पनाएं वैष्णवादि सम्प्रदायों के प्रचार के पश्चात ही, पौराणिककाल में, इस देश में फैली हैं। एक ओर इस कल्पना ने ईश्वर को खींचकर अल्पज्ञ जीव

की कोटि में रख दिया दूसरी ओर राम को ईश्वर बताकर उनके आदर्शों को जनसाधारण के अनुकरण की वस्तु न छोड़ा। वे समझने लगे कि राम तो ईश्वर थे भला हम उनका क्या अनुकरण कर सकते हैं। इन वादों से इस देश को जो हानि पहुँची है उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

——:०:——

निश्चय ही मैंने अनेक वार मन चाहे पाप किये हैं उन्हीं का फल यह आज मुझे प्राप्त हुआ है। जिससे मैं एक दु.ख से दूसरे दुःख को प्राप्त होता हूँ। हे लक्ष्मण! राज्य का नाश घर वालों का छूटना, पिता का मरण, माता का वियोग ये सब मेरे शोक को वढ़ाते हैं।

इसी स्थल पर आगे राम ने मनुष्य की भाँति अनभिज्ञता प्रकट करते हुए कहा कि सम्भवतः राक्षसों ने सीता को मार कर खा लिया होगा। जटायु को पड़ा देखकर राम कहने लगे कि इसने सीता को खालिया है, इसमें संदेह नहीं है। अब यह सीता को खाकर सुख पूर्वक पड़ा है। मैं इसे वाणों से मारूंगा इत्यादि। वाल्मीकीय रामायण का यह समस्त स्थल इस बात को प्रवलरूप से सिद्ध करता है कि राम, मनुष्य थे। सीता-वियोग से व्यथित होना, अपने समस्त दु.खों का कारण अपने कृतपापों को वताना, एवं यह न जानना कि सीता को कौन ले गया और वह अब कहाँ है, जीवित है या मृत, ये सब ऐसे प्रमाण हैं, जो राम को ईश्वरावतार असिद्ध करने के लिये पर्याप्त हैं। यदि ऋषि वाल्मीकि रचित रामायण काल में राम को ईश्वर का अवतार माना गया होता तो रामायण में राम का इस प्रकार वर्णन न होता। अतः उपर्युक्त उद्धरणों से हमारे इस विचार की पूर्णरूप से पुष्टि होती है कि राम को उस काल में तथा पीछे वहुत समय तक कोई भी ईश्वरावतार नहीं मानता था।

इस प्रकार रामायण काल में न केवल मूर्तिपूजा ही अप्रचलित थी अपितु राम को ईश्वरावतार मानने की भावना भी प्रसारित नहीं हुई थी। यह समस्त कल्पनाएं वैष्णवादि सम्प्रदायों के प्रचार के पश्चात ही, पौराणिककाल मे, इस देश में फैली हैं। एक ओर इस कल्पना ने ईश्वर को खींचकर अल्पज्ञ जीव

की कोटि में रख दिया दूसरी ओर राम को ईश्वर बताकर उनके आदर्शों को जनसाधारण के अनुकरण की वस्तु न छोड़ा। वे समझने लगे कि राम तो ईश्वर थे भला हम उनका क्या अनुकरण कर सकते हैं। इन वादों से इस देश को जो हानि पहुँची है उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

——:o:——

मूर्तिपूजा तथा महाभारत काल

महाभारत का समय आज से लगभग पाँच हजार वर्ष से कुछ ऊपर अङ्कित किया जाता है। वह काल रामायणकाल से बहुत पीछे का है। रामायणकाल में आर्य लोग वैदिक मर्यादा का पालन करते थे किन्तु महाभारत के समय में उनकी खुले रूप मे अवहेलना प्रारम्भ हो चुकी थी। तप और त्याग का स्थान भोग विलास लेते जा रहे थे। द्यूतादि दुष्कृत्य पाप नहीं समझे जाते थे। धर्मराज कहे जाने वाले युधिष्ठिर राजसभा में खुले रूप से जुआ खेलते थे। इस प्रकार वह जाति जो किसी समय ससार को धर्म का पाठ पढ़ाती थी बड़ी शीघ्रता से पतन की ओर अग्रसर हो चली थी।

रामायण की भांति महाभारत मे भी प्रक्षिप्त भाग की कमी नहीं है। यदि वह कहा जाय कि वर्तमान महाभारत ग्रन्थ, उस ग्रन्थ से जिसकी रचना महर्षि वेदव्यास कृष्णद्वैपायन ने की थी, कई गुना बढ़ गया है, तो अत्युक्ति न होगी।

महाभारत की इस समय श्लोक संख्या ९५४२६ है। परन्तु स्वयं महाभारत की साक्षी से सिद्ध होता है कि व्यास जी ने केवल चौबीस हजार (२४०००) श्लोकों की रचना की है :—

चतुर्विंशतिसाहस्त्रीं चक्रे भारतसंहिताम्।
उपाख्यानैर्विना तावद् भारतं प्रोच्यते बुधैः॥ आदि १। १०१॥

(महर्षि व्यास ने) चौबीस सहस्र (श्लोकयुक्त) भारत संहिता बनाई थी। उपाख्यानों के बिना इतने को ज्ञानी लोग 'भारत' कहते हैं। इसके विपरीत एक दूसरा श्लोक देकर कुछ लोग श्लोक संख्या केवल ८८०० सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं—

अष्टौ श्लोकसहस्राणि अष्टौ श्लोकशतानि च।
अहं वेद्मि शुको वेत्ति सञ्जयो वेत्ति वा न वा॥आदि १।८१॥

आठ सहस्र आठ सौ श्लोकों को मैं जानता हूं, शुक जानता है सञ्जय न जाने जानता है या नहीं जानता।

यह श्लोक संख्या इतनी किस प्रकार बढ गई, इसका भी स्वयं महाभारत ग्रन्थ से ही बहुत कुछ पता लग जाता है। सूत लोमहर्षण के पुत्र सूत उग्रश्रवा कहते हैं कि "एकंशतसहस्रन्तु मयोक्तं वै निबोधत।" (आदि १।१०७) "एक लाख श्लोक मेरा बनाया हुआ समझो।" इससे यह सिद्ध होता है कि किसी समय यह श्लोक संख्या एक लाख से भी कहीं अधिक पहुंच चुकी थी।

स्वामी दयानन्द ने इस सम्बन्ध में एक अन्य साक्षी अपने सत्यार्थप्रकाश में राजा भोज लिखित संजीवनी इतिहास के आधार पर दी है, जिसमें लिखा बताया जाता है कि "व्यास जी ने ४४४० और उनके शिष्यों ने ५६०० अर्थात् सब १०००० के प्रमाण भारत बनाया था। वह महाराज विक्रमादित्य के समय में बीस सहस्र, महाराज भोज कहते हैं, मेरे पिता के समय में २५ सहस्र, अब मेरी आधी उम्र में तीस सहस्र श्लोकयुक्त महाभारत की पुस्तक मिलती है," इत्यादि।

एक अन्य प्रमाण इस विषय में गरुड़पुराण का भी उपलब्ध है जिसमें भारत की श्लोक संख्या केवल छः हजार प्रमाणित होती है।—

दैत्याः सर्वे विप्रकुलेषु भूत्वा कृतेयुगे भारते षट्सहस्रयाम् ।
निष्कास्य कांश्चिन्नवनिर्मितानां निवेशनं तत्र कुर्वन्ति नित्य ॥

कृतयुग में सारे दैत्य ब्राह्मण कुलों में उत्पन्न छः हजार श्लोक वाले भारत ग्रन्थ में कुछ अंश निकाल कर नये बने अंशों का निवेशप्रक्षेप नित्य करते रहते हैं। ('कृतेयुगे' के स्थान पर 'कलौयुगे' पाठ, अर्थ की दृष्टि संगत होगा—लेखक)।

उपरोक्त प्रमाणों से सिद्ध होता है कि महाभारत जिसका कि सबसे पूर्व नाम 'जय', फिर 'भारत' और अन्त में कदाचित श्लोक वृद्धि के कारण 'महाभारत' पड़ गया—मे इतने क्षेपक हैं कि मूल ग्रन्थ वास्तव मे कितना है? यह निश्चय करना अत्यन्त कठिन हो जाता है। जो बात महाभारत के सम्बन्ध में सत्य है, ठीक वही बात गीता के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। गीता महाभारत का ही एक भाग है। शंकर स्वामी के भाष्य से पूर्व उसका कोई अन्य भाष्य प्राप्त नहीं होता। जिससे यह प्रमाणित होता है कि उससे पूर्व गीता का महाभारत से पृथक कोई अस्तित्व एक ग्रंथ के रूप में नहीं था। श्री कृष्ण का गीता के रूप में इतना विस्तृत एवं विषयान्तर उपदेश भी ठीक युद्ध के समय न सम्भव है और न युक्तियुक्त। आत्मा के अमरत्व को सिद्ध करके अर्जुन को युद्ध करने के लिये प्रोत्साहित करना पर्याप्त था, जो गीता के द्वितीय अध्याय से ही सिद्ध हो जाता है। अत हमारा विश्वास है कि गीता मे भी प्रक्षिप्त भागों की कमी नहीं है। अनेक विद्वानों का यह भी मत है कि समस्त गीता ही महाभारत में पीछे से जोड़ी गई है। इस पक्ष की युक्तियाँ भी प्रबल और विचारणीय हैं।

इस विषय में हम अधिक विस्तार में नही जाना चाहते, क्योंकि यह हमारा प्रतिपाद्य विषय नहीं है। इससे हमारा

उद्देश्य केवल यह सिद्ध करना है कि इतना अधिक प्रक्षिप्तांश होने पर भी महाभारत एवं गीता दोनों में ही मूर्तिपूजा के समर्थन में एक भी श्लोक नहीं है। हाँ मूर्तिपूजा के खण्डन में एक स्पष्ट श्लोक महाभारत में मिलता है:—

मृच्छिलाधातुदार्वादिमूर्तावीश्वरबुद्धय. ।
क्लिश्यन्ति तपसा मूढ़ा. परां शान्ति न यांति ते ॥

मूर्ख लोग मिट्टी, पाषाण, धातु अथवा काष्ठ की मूर्तियों को ईश्वर समझते हैं। इन लोगों को कभी भी शाँति प्राप्त नहीं हो सकती।

प्रसिद्ध भारतीय इतिहासकार रायबहादुर चिन्तामणि विनायक वैद्य ने अपने 'भारतमीमांसा' ग्रन्थ में इस विषय का सविस्तार विवेचन किया है। उनका भी यही मत है कि महाभारत काल तक इस देश में मूर्तिपूजा प्रचलित नहीं थी। हम उसे उन ही के शब्दों में पाठकों के अवलोकनार्थ नीचे उद्धृत करते हैं.—

(महाभारत में) स्पष्ट देख पड़ता है कि प्रत्येक आर्य ब्राह्मण क्षत्रिय, और वैश्य प्रति दिन संध्या एवं यज्ञ किया करते थे। कम से कम भारतीय योद्धाओं के वर्णन में इस बात की कहीं कमी नहीं है। जिस तरह यह नहीं देख पड़ता कि कहीं समय पर संध्या करना राम और लक्ष्मण भूल गये हों, उसी तरह समझौते के लिये जाते हुए श्री कृष्ण का जो वर्णन महाभारत में है, उसमें प्रातः साय संध्या करने का वर्णन करने में भी कवि ने भूल नहीं की:—

प्रातरुत्थाय कृष्णन्तु कृतवान्सर्वमाह्निकम् ।
ब्राह्मणैरभ्यनुज्ञाता प्रययौ नगरं प्रति ॥

(महा० उद्योग पर्व अ० ८३)

संध्या में मुख्य भाग था उपस्थान करना जो वैदिक मंत्रों से किया जाता है। लिखा है कि भारतीय युद्ध के समय समस्त क्षत्रिय प्रातः स्नान करके संध्या से छुट्टी पाकर रण भूमि पर सन्नद्ध होते थे। रात को एक ही दिन युद्ध हुआ और समस्त सैनिकों ने युद्ध भूमि में ही ाराम किया। उस समय का वर्णन है कि प्रात. काल होने से पहिले ही युद्ध छिड़ गया, तब सूर्य निकला। उस समय समस्त सैन्य में युद्ध रुक गया और सभी क्षत्रियों ने रणाङ्गण में ही संध्या अर्थात् सूर्य उपस्थान किया। इससे देख पड़ता है कि भारत काल में संध्या और सूर्य के उपस्थान का कितना महात्म्य था। (द्रोण पर्व अ० १८६) "पूर्व में अरुण के द्वारा ताम्रवर्णांकित रवि मंडल सोने के चक्र की भाँति दिखाई देने लगा, तब उस संध्या समय में कौरव और पाण्डव दोनों ओर के योद्धा अपने-अपने रथ, घोड़े और पालकी आदि सवारियां छोड़ छोड कर सूर्य की ओर मुंह करके, हाथ जोड़ जप करने लगे" इत्यादि।

"दूसरा कर्तव्य था अग्नि में आहुति देना। यह बात निश्चय पूर्वक सिद्ध है कि प्रत्येक आर्य वर्ण वाला मनुष्य अपने घर में अग्नि स्थापित रखता था। द्रोण पर्व के ८२ वें अध्याय में युधिष्ठिर का जो वर्णन किया है, उसे हम पहिले दिखला चुके हैं। युधिष्ठिर प्रात उठकर स्नान करके संध्या और फिर यज्ञशाला में जाकर अग्नि में आज्याहुति के साथ समिधा, वैदिक मंत्र पढ़कर यज्ञ करने को नहीं भूले।

समिद्भिश्च पवित्राभिरग्निमाहुतिभिस्तदा।
मंत्रपूताभिरर्चित्वा निश्चक्राम ततो गृहात्॥

"इस तरह उद्योग पर्व के ८ वें अध्याय में जब श्री कृष्ण हस्तिनापुर को जाने के लिये चले, तब का वर्णन है:—

कृत्वा पौर्वाह्निकं कृत्यं स्नातः शुचिरलंकृतः ।
उपतस्थे विवस्वतं पावकं च जनार्दनः ।।

लिखा है कि श्रीकृष्ण और युधिष्टर ने सन्ध्या एवं होम करके ब्राह्मणों को दान दिया इत्यादि-इत्यादि (पृ० ४४७-४४८) मूर्तिपूजा पर अपने विचार व्यक्त करते हुए, वह लिखते हैं:—

यह बात निर्विवाद है कि इस वर्णन में कहीं मूर्तिपूजा का वर्णन नहीं है। यद्यपि श्रीकृष्ण अथवा युधिष्टिर की आह्निक क्रियाओं का वर्णन विस्तार पूर्वक किया गया है, तथापि उसमें किसी देवता की धातुमयी अथवा पाषाणमयी मूर्ति के पूजे जाने का वर्णन नहीं है। उस समय यदि लोगों की आह्निक क्रिया में देवताओं की पूजा का समावेश हुआ रहता, तो उस विषय का उल्लेख इस वर्णन में अवश्य आया होता। इससे निश्चय पूर्वक अनुमान होता है कि भारतीय युद्धकाल में और महाभारत काल पर्यन्त आर्यों के आह्निक धर्म में किसी प्रकार के देवता की पूजा समाविष्ट न हुई थी। किसी घर मे देवता की मूर्ति रखकर उसकी पूजा शुरू नहीं हुई थी। भिन्न-भिन्न गृह्य सूत्रों मे भी देवताओं की पूजा की विधि नहीं बतलाई गई है। इससे यह बात निर्विवाद है कि देवताओं की पूजा की विधि महाभारत काल के पश्चात् अनेक वर्षों में उत्पन्न हुई है।" (पृ० ४४८-४४९) आगे वह पुनः लिखते हैं.—"परन्तु महाभारत में मन्दिरों और मन्दिरों में स्थित मूर्तियों का वर्णन बहुत मिलता है। यह बात सच है कि मूल वैदिक धर्म में मन्दिरों अथवा मूर्तियों का माहात्म्य न था और न लोगों के नित्य के धार्मिक कृत्य में मूर्ति का समावेश था। महाभारत में सौति ने जो नवीन अध्याय जोड़े हैं, उनमें मूर्तियों और मन्दिरों का वर्णन है" (पृ० ४४९) "यद्यपि मन्दिर और

अवतारवाद का भी खण्डन निम्न श्लोकोंसे स्पष्ट है:—

मनीषी मनसा विप्रः दृश्यत्यात्मानमात्मनि ॥१५॥
नह्यय चक्षुषा दृश्यो न च सर्वैरपीन्द्रियैः ।
मनसा तु प्रदीपेन महानात्मा प्रकाशते ॥१६॥
अशव्दस्पर्शरूपं तदरसागन्धमव्ययम् ।
अशरीरं शरीरेषु निरीक्षेतनिरिन्द्रियम ॥१७॥

शान्ति पर्व अ० २३६

हे विप्र ! मनीषी अपनी आत्मा में ही आत्मा को देखता है। यह आत्मा न आखों से देखने योग्य है और न सारी इन्द्रियों से। मन रूप प्रदीप से यह देखा जा सकता है।१६। वह परमात्मा शव्द स्पर्श. रूप, रस, गन्ध से रहित, अव्यय है और शरीर में व्याप्त भी है। उस अशरीरी और निरिन्द्रिय को देखें।१७।

श्री मद्भगवद् गीता में स्थान-स्थान पर अग्निहोत्र, तप, योग, स्वाध्याय आदि का ही वर्णन है, मूर्तिपूजा आदि जड़ उपासना का नहीं:—

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः ।
प्रवर्त्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥
तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपः क्रियाः ।
दान क्रियाश्चविविधाः क्रियन्ते मोक्षकॉक्षिभिः ॥२५॥

इसलिये ओंकार का उच्चारण करके यज्ञ, दान, तप, यह क्रियाएं वैदिक लोगों में निरन्तर विधिपूर्वक होती रहती हैं।२४। हे अर्जुन ! मोक्ष की इच्छा वाले, फल की इच्छा न करके यज्ञ, तप की क्रिया और दान की नाना प्रकार की क्रियाएं 'तत् सत्' शव्द उच्चारण करके करते है।२५। यज्ञ से अभिप्राय अग्निहोत्र से ही है, यह नीचे के श्लोक से स्पष्ट हो जाता है:—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।

असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥२८॥

हे पार्थ! अश्रद्धा से हवन किया हुआ, दान दिया हुआ, तप किया हुआ और जो कुछ कर्म अश्रद्धा से किया जाता है, उसको 'असत्' कहते हैं। वह कर्म न परलोक में और न इस लोक में फलदायक होता है।

पुनः कृष्ण ने यज्ञादि को नित्य तथा सर्वकाल में करने योग्य कर्तव्य कर्म ठहराया है, इनको ही मनुष्य को पवित्र करने वाला बताया है:—

यज्ञ दान तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञोदानंतपश्चैव पावनानि मनीषिणाम ॥५॥ अ०१८।

यज्ञ, दान और तप त्यागने योग्य नहीं हैं। इन्हें करना ही चाहिये क्योंकि यज्ञ, दान तथा तप यह मनुष्यों को पवित्र करते हैं।

अन्त में ईश्वर प्राप्ति का प्रकार वर्णन करते हुए श्री कृष्ण, अर्जुन से कहते हैं:—

सिद्धिप्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठाज्ञानस्य या परा ॥५०॥
बुद्ध्याविशुद्धयायुक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥५१॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५२॥

हे अर्जुन! शुद्ध अन्तःकरण वाला पुरुष जिस प्रकार ब्रह्म को प्राप्त होता है, उसको सुन और ज्ञान की जो सबसे बड़ी निष्ठा है, उसको भी संक्षेप में सुन।५०। शुद्ध बुद्धि से युक्त, आत्मिक यत्न द्वारा मन को रोक कर शब्द स्पर्शादि विषयों को छोड़ कर और राग द्वेष को त्याग कर पुरुष ब्रह्म को प्राप्त होता है।५१।

शियों के आगमन तथा उनके सम्पर्क से मूर्तिपूजा का सूत्रपात हुआ और धीरे धीरे वाममार्गीय हिंसायुक्त यज्ञों का स्थान मूर्ति-पूजा ने ले लिया।

भगवान् बुद्ध ने यज्ञों का निषेध किया और सदाचारपूर्ण जीवन पर विशेष बल दिया। बुद्ध की शिक्षाओं में मूर्तिपूजा का कहीं कोई उल्लेख नहीं है। बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् भी बौद्ध धर्म में मूर्तिपूजा का कोई स्थान नहीं था। परन्तु पीछे से विदेशियों के सम्पर्क से बौद्धों में भी मूर्तिपूजा प्रचलित होगई। बौद्ध धर्म भी अनेक सम्प्रदायों मे विभाजित होगया और बौद्ध-काल का समस्त वैभव अस्तव्यस्त होने लगा।

इसी समय श्री शङ्कराचार्य ने पुनः वैदिक धर्म की स्थापना का प्रयास किया, जिसके आधार विशेषतः उपनिषद्, वेदान्त-दर्शन तथा गीता थे, जो आज भी 'प्रस्थानत्रयी' के नाम से प्रसिद्ध हैं। शङ्कर स्वामी ने मूर्तिपूजा का खण्डन करके बौद्ध धर्म के साथ उसे भी इस देश से निर्वासित करने का प्रयत्न किया, किन्तु उन्हें इसमें सफलता नहीं मिली। अपनी पुस्तक 'परापूजा' में उन्होंने मूर्तिपूजा की निम्न शब्दों में कड़ी आलोचना की है—

१—पूर्णस्यावाहनं कुत्र सर्वाधारस्य वासनम्।
स्वच्छस्य पाद्यमर्घ्यंच, शुद्धस्याचमनं कुतः॥

२—सर्वाधारो निराधारः सर्वव्यापक ईश्वरः।
प्राणादिप्रेरकत्वेन जीवने हेतुरेव च॥

पुराणवाक्यम्—

३—अधमा प्रतिमा पूजा, स्तोत्रजाप्यं च मध्यमा,
उत्तमा निगमा पूजा सोऽहं पूजा महात्मनः॥

४—तीर्थेषु पशुयज्ञेषु काष्ठपाषाण मृन्मये।
प्रतिमायां मनोयेषां ते नरा मूढ्चेतसः॥

५—पाषाणैरालयं यस्या देवः पाषाण एव च ।
ब्रूहि पण्डित ! देवस्तु कस्मिन् स्थाने स तिष्ठति ॥
६—स्वगृहे पायसं त्यक्त्वा भिक्षामिच्छति दुर्मतिः ।
शिलामृतदारुचित्रेषु देवता बुद्धिकल्पिता ॥
७—निर्मलस्य कुतः स्नानं वस्त्रं विश्वोदरस्य च ।
निरालम्बस्योपवीतं च, रम्यस्याभरणं कुतः ॥
८—निर्लेपस्य कुतो गन्धं पुष्पं निर्वासनस्य च ।
निर्गन्धस्य कुतो धूपं स्वप्रकाशस्य दीपकम् ॥
९—नित्यतृप्तस्य नैवेद्यं निष्कामस्य फलं कुतः ।
ताम्बूलं च विभोः कुत्र नित्यानन्दस्य दक्षिणा ॥
१०—स्वयं प्रकाशमानस्य कुतो नीराजनं विधिः ।
प्रदक्षिणाह्यनन्तस्य चाद्वितीयस्य का नतिः ॥
११—अन्तर्बहिश्च पूर्णस्य कथमुद्वासनं भवेत् ।
इयमेव परापूजा शम्भोः सत्यपरायणः ॥
१२—देहो देवालयः प्रोक्तो जीवो देवः सनातनः ।
त्यजेदज्ञाननिर्माल्यं सोऽहंभावेन पूजयेत् ॥

१—पूर्ण का आवाहन कैसा ? सर्वाधार को आसन कैसा ? स्वच्छ के लिये पाद्य और अर्घ कैसा ? और शुद्ध के लिये आचमन कैसा ?

—परमेश्वर सर्वाधार, निराधार और सर्वव्यापक है । प्राणों का प्रेरक और जीवन का हेतु है ।

२—पुराणों का वाक्य है—प्रतिमा पूजा अधम है, स्तोत्रों का जपना मध्यम है, वेद पूजा सर्वोत्तम है महात्माओं की पूजा 'सोऽहम्' है ।

करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः। वेदान्त सूत्र २।२।४०
"शरीरत्वे सति संसारिवद् भोगादिप्रसङ्गादीश्वरस्यापि अनीश्वरत्वं प्रसज्येत्"

शरीर सहित साकार होने पर, संसारी पुरुष के समान भोगादि के प्रसङ्ग से ईश्वर होने पर उसमे भी अनीश्वरत्व हो जायगा।

गणेश पूजा की आलोचना करते हुये शङ्कर स्वामी कहते हैं:—"भो गाणपत्या सत्यमुक्तं भवता गणपतेः सर्वोत्तमत्वं वनमथावलाद्रुद्राद्युत्पत्तिश्चेति भवद्भिः प्रतिपादितं किलतद-समञ्जसम् प्रतिभाति। कथं सगुणस्य गजमुखस्य गणपतेः रुद्रगणैः लयोऽनुगस्य जगत् कारणत्वं कल्पयितुमुचितम्। किञ्च रुद्रसुत इतिलोके प्रसिद्धरस्ति, तस्यब्रह्मणत्वे कल्पिते पित्रा-दिकारणत्वं सुतस्यानुचितमेव, अतो रुद्रादिकारणं परब्रह्मैव "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्" इत्यादि वाक्यात्'।

शङ्कर दिग्विजय पृ० ८४

गणपति के पूजक! तुम्हारा यह कहना कि गणपति सबसे उत्तम है सत्य नहीं है। सगुण गणेश, गजमुख वाला जो रुद्र के गणों के साथ उत्पन्न और नष्ट होता है, वह जगत का कारण कैसे हो सकता है? क्योंकि वह रुद्र का पुत्र है, यह लोक में प्रसिद्ध है। उसको ब्रह्म मानोगे तो वह पुत्र होने से रुद्रादिकों का कारण नहीं होगा। इसीलिये ब्रह्म ही रुद्रादि का कारण है। 'वही सत्य रूप सृष्टि के पूर्व था' इत्यादि उपनिषद् प्रमाण है।

शङ्कर भाष्य से ऐसे ही अन्य प्रमाण उपस्थित किये जा सकते हैं, किन्तु ग्रन्थ विस्तार भय से हम उन्हें यहां नहीं देते। परन्तु श्री शङ्कराचार्य का मूर्तिपूजा के विरुद्ध प्रयत्न विफल रहा और

बौद्ध-धर्म के पतन के साथ इस देश में अनेक प्रकार की मूर्तियों की रचना होती ही गई जिन्होंने बुद्ध तथा तीर्थङ्करों की मूर्तियों का स्थान ग्रहण कर लिया। अनेकानेक पुराणों की रचना भी इसी काल में की गई। वर्तमान हिन्दू-धर्म की मूर्तिपूजा आचार-विचार, पर्व, तीर्थ, जन्म-जात-वर्णव्यवस्था, सब ही की रूपरेखा इसी समय की गई। उसके तीन मुख्य सम्प्रदायों-शैव, शाक्त तथा वैष्णव, का जन्म भी इसी काल में हुआ। अठारह महा-पुराण इन ही तीन सम्प्रदायों के आधार भूत ग्रन्थ हैं। वैष्णव-सम्प्रदाय-प्रधान पुराणों ने मूर्तिपूजा, अवतारवाद, तीर्थ माहात्म्य को जितना महत्व दिया है, उतना शैव अथवा शाक्त-प्रधान पुराण ने नहीं दिया।

पुराणों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल में भी विद्वानों ने मूर्ति पूजा का विरोध किया। उन्होंने या तो इसका सर्वथा खण्डन किया, या उसे अज्ञानी, मूर्ख अथवा निचली श्रेणी के लोगों की वस्तु बताकर ज्ञानियों के लिये उसका निषेध किया। मन्दिरों में पूजा कार्य ब्राह्मणों ने स्वीकार नहीं किया और यदि किसी ने लालच-वश स्वीकार कर लिया तो उसे जातिच्युत कर दिया गया। पुराणों से ऐसे ही कुछ प्रमाण हम नीचे देते हैं:—

> प्राप्ते कलावहह दुष्तरे च काले।
> न त्वां भजन्ति मनुजा ननु वञ्चितास्ते।
> धूर्तैः पुराणचतुरैर्हरिशङ्कराणाँ,।
> सेवापराश्चविहितास्तव निर्मितानाम् ॥१८॥
>
> देवी भागवत स्क० ४ अ० १६

इस घोर कलियुग में पुराणों के बनाने में धूर्त चतुर लोगों

वह सब में सर्वत्र व्यापक होकर ठहरा हुआ है तो भी कहीं किसी से प्रकट रूप में नहीं देखा जाता ।४६। न वह आँखों से देखा जा सकता है न अन्य इन्द्रियों से ग्रहण किया जा सकता है। प्रकाशित मन से ही वह महानात्मा प्राप्त किया जा सकता है ।४७। जैसे तिलों में तेल और दही में घृत छुपा हुआ है, जैसे पानी स्रोत में तथा जैसे अरणी में अग्नि छुपा है ।७४। वैसे विलक्षण परमात्मा आत्मा में छिपा रहता है। उसको योगी सत्य और तप से नि य अपने आत्मा में देखता है ।७५।

समस्त पुराणों में ब्रह्मा, विष्णु, शिव तथा शक्ति की पूजा का ही विशेष रूप से वर्णन है। किन्तु प्रत्येक सम्प्रदाय का पुराण अपने-अपने उपास्य देव को ही सर्वोपरि बताते हुए दूसरे सम्प्रदायों के उपास्यदेवों की निन्दा करता है। वैष्णव पुराण विष्णु को महान् और शेष ब्रह्मा, शिव तथा शक्ति को निकृष्ट सिद्ध करते हैं और इनके उपासकों को नरकगामी बताते हैं। इसी प्रकार शिव पुराण, शिव की महत्ता तथा अन्य देवों की निन्दा करता है। शाक्तों के पुराण देवी भागवत में ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव की बडे ही कठोर शब्दों में आलोचना की गई है। एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय के अनुयायियों के प्रति नि.सकोच अपशब्दों का प्रयोग करता है। इतना ही नहीं, इन पुराणों मे इन देवों के पारस्परिक तुमल युद्ध और जय, पराजय का भी वर्णन है। जिसका कुछ दिग्दर्शन हम पाठकों को आगे करायेगे।

पौराणिक काल की उपर्युक्त साम्प्रदायिक प्रतिद्वन्द्विता से यह पूर्णत. सिद्ध होता है कि चाहे मूर्तिपूजा का आदिकारण कुछ भी रहा हो, किन्तु कालान्तर में इसका विस्तार व्यवसायिक बुद्धि से हुआ और आज भी यही भावना, इसकी असारता और दोषों

को जानते हुए भी, इसके परित्याग में वाधक है। जिस प्रकार एक दुकानदार अपनी वस्तुओं को सर्वश्रेष्ठ और दूसरे की वस्तुओं को निकृष्ट बताकर ग्राहकों को अपनी दुकान पर खींचने का प्रयत्न करता है, ठीक यही दशा इन सम्प्रदायों की है। वे अपने देवता, एवं तिलक छाप की प्रशंसा तथा दूसरों की निन्दा करके अपनी-अपनी दुकान जमाने का प्रयत्न करते हैं, अन्यथा यदि समस्त उपास्य देवों में एक ही ईश्वर की भावना होती तो इस प्रतिद्वन्दिता का कोई कारण ही नहीं था। वहुदेवतावाद का यह स्वाभाविक दुष्परिणाम है। पौराणिक काल की यही व्यवसायपूर्ण साम्प्रदायिक स्पर्धा आर्य जाति के आन्तरिक कलह का मुख्य कारण थी। उसी मनोवृत्ति का संक्षेप में हम यहाँ थोड़ा दिग्दर्शन करायेंगे।

विष्णु तथा विष्णु के अवतारों की प्रशंसा करते हुए पद्म-पुराण लिखता है—

राघवः सर्वदेवानां पालनः पुरुषोत्तमा ॥ ११५
स्पृष्टा दृष्टाश्च ते नैव विमलाः शङ्करादयः ॥ ११६

पद्म पु० उत्त० ख० अ० २२५

सब देवों में पवित्र पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र हैं। जिनके स्पर्श और दर्शन से महादेवादि निर्मल होगए।

कस्तेन तुल्यतामेति देवदेवेन विष्णुना।
यस्यांशांशावतारेण विना सर्वं विलीयते ॥ ३२७

प० पु० पाताल ख० ६७।

देवों के देव विष्णु की वरावरी कौन कर सकता है ? जिसके अंशांश अवतार के विना सब विलीन होजाते हैं।

यस्तु नारायणं देवं ब्रह्म रुद्रादि दैवतैः।

समत्वेनैव वीक्षेत् स पाषण्डी भवेत्सदा ॥९

प० पु० उत्तर खं० अ० २६३

जो विष्णु को ब्रह्म और रुद्रादि देवों के समान समझता है, वह सदा पाखण्डी है ।

किमत्र बहुनोक्तेन ब्राह्मणा· येप्यवैष्णवाः ।
नस्प्रष्टव्या न वक्तव्या न द्रष्टव्याः कदाचन ॥११

प० पु० उ० खं० २६३

अधिक क्या कहें जो विष्णु के सिवाय किसी भी देवता को मानेगा, उससे बात करना, उससे छूना तथा उस को देखना पाप है ।

अनर्च्या ब्रह्मरुद्राद्या रजस्तमोविमिश्रताः ।
त्वं शुद्धसत्वगुणवान् पूजनीयोऽग्रजन्मनाम् ॥६०

ब्रह्मा और शिव रजोगुण और तमोगुण युक्त हैं अतः ये पूजन योग्य नहीं है। हे विष्णु आप सतोगुण युक्त हो अतः आपही ब्राह्मणों द्वारा पूजे जाने योग्य हैं ।

इतरेषा तु देवानामन्नं पुष्पं जलं तथा ।
अस्पृश्यन्तु भवेत्सर्वं निर्माल्यं सुरया समम ॥६३

अन्य देवताओं का अन्न, पुष्प और जल छूने योग्य भी नहीं है, किन्तु सारा चढ़ावा मदिरा के समान होता है ।

इसी पुराण मे शिवजी द्वारा ही उनकी निन्दा निम्न श्लोकों में कराई गई है—

देवताना हितार्थाय वृत्ति· पापण्डिना शुभे ।
कपालचर्मभस्मास्थि धारणां तत्कृतं मया ॥५३
ये मे मतमाश्रित्य चरन्ति पृथिवीतले ।
सर्वधर्मैश्च रहिताः पत्यन्ति निरय सदा ॥६०

(प० पु० उ० खं० अ० २६६ आनन्द आश्रम प्रेस पूना)

शिवजी कहते हैं—हे शुभ पार्वती देवों के हित के लिये कपाल, भस्म और अस्थि रखने वाली पाखण्डियों की वृत्ति मैंने धारण की है। जो मेरे मत को धारण कर पृथिवी पर आचरण करेंगे वे सारे धर्मों से भ्रष्ट होकर नरक को देखेंगे।

पुराकदाचिद्योगीन्द्र विष्णुर्विषधरासनः।
सुष्वाप परया भूत्या स्वानुगैरपि सुवृतः॥१
यदृच्छयागतस्तत्र ब्रह्मा ब्रह्म विदांवरः।
अपृच्छत् पुण्डरीकाक्षं शयानं सर्व सुन्दरम्॥२
कस्त्वं पुरुषवच्छेषे दृष्ट्वामामपि दृप्तवत्।
उत्तिष्ठ वत्स मां पश्य तव नाथमिहागतम्॥३
आगतं गुरुमाराध्यं दृष्ट्वा यो दृप्तवच्चरेत्।
द्रोहिणस्तस्य मूढस्य प्रायश्चित्तं विधीयते॥४
इतिश्रुत्वा वचः क्रुद्धो वहिः शान्त वदाचरन्।
स्वस्ति ते स्वागतं वत्स तिष्ठ पीठमितो विश॥५

ब्रह्मोवाचः

किमु ते व्यग्रवद्वक्त्रं विभाति विषमेक्षणम्।
वत्सविष्णो महामानमागतं काल वेगतः॥६

विष्णुरुवाचः—

पितामहश्च जगतः पाता च तव वत्सक।
मत्स्थं जगदिदं वत्स मन्ये त्वं हि चोरवत्॥७

नन्दिकेश्वर उवाचः—

अहमेव वरो न त्वमहं प्रभुरहं प्रभुः।
परस्परं हन्तु कामौ चक्रतुः समरोद्यमम्॥६

शिवपुराण विद्ये० खं० १ अ० ६

हे योगीन्द्र ! आगे एक समय विष्णु भगवान शेष शय्या पर अपने गरुड़ आदि पार्षदों से संयुक्त लक्ष्मी सहित शयन करते थे ॥१॥ उस समय ब्रह्मज्ञानियों मे श्रेष्ठ ब्रह्मा जी अपनी इच्छा से ही वहाँ आये और सब प्रकार सुन्दर सेज पर शयन करते हुए कमल लोचन विष्णु जी से पूछने लगे ।२॥ तुम कौन हो जो मुझे देख कर अभिमानी पुरुष के समान शयन करते हो ? हे वत्स ! उठो, देखो मैं तुम्हारा स्वामी आया हूँ ।३ ॥ आये हुए गुरु को देख कर जो अभिमान करता है, उस द्रोही मूढ़ का प्रायश्चित होना उचित है । ४ ॥ यह सुनकर विष्णु जी के अन्तर में तो क्रोध हुआ, परन्तु बाहर से शान्त रहे और बोले हे वत्स ! तुम्हारा मङ्गल हो, बैठो, इस आसन पर विराजो ।५ ॥ इस समय तुम्हारा नेत्र कुटिल और मुख व्यग्र हो रहा है । ब्रह्मा जी बोले हे वत्स ! विष्णु ! तुमको समय के प्रभाव से अभिमान है ।६ ॥ हे पुत्र ! मैं तुम्हारा रक्षक और जगत का पिता हूँ । विष्णु जी बोले, यह तो सब जगत मुझ में स्थित है तुम चोर के समान किस प्रकार अपना कहते हो ।७। मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं स्वामी हूँ ऐसा कह कर एक दूसरे को मारने की इच्छा से वे दोनों युद्ध करने को तैयार होगये । ८ ।

स्व-सम्प्रदाय के तिलक, कण्ठी आदि बाह्य चिन्हों की प्रशंसा तथा अन्य सम्प्रदायों के चिह्नों की निन्दा भी इस साम्प्रदायिक सघर्ष का एक विशेप अङ्ग था । वैष्णव सम्प्रदाय के ऊर्ध्वपुण्ड्र तथा शंख चक्र चिह्नों की प्रशंसा एवं शैवों के भस्म धारण करने की निन्दा का नमूना नीचे देखिये —

न तस्य किंचिदश्नीयादपि क्रतुसहस्रिणः ।
सर्व वेदविदो वापि सर्वशास्त्र विशारदः ।४२॥
अधृत्वा विधिना चक्रं ब्राह्मण पतितो भवेत् ।

ऊर्ध्वपुण्ड्रविहीनस्तु शंखचक्रविवर्जितः ॥४३॥
त गर्दभे समारोप्य वहिः कुर्यात् स्वपत्तनात् ॥४४॥

[पद्म पु० उ० । अ० २५३

जो हजार यज्ञ करे सम्पूर्ण वेद या सर्व शास्त्रों का ज्ञाता हो तथापि जो ऊर्ध्वपुण्ड्र तथा शंख चक्र, धारण नहीं करता, वह ब्राह्मण पतित हो जाता है। ऐसे लोगों को गधे पर चढ़ा कर नगर से वाहर निकाल देना चाहिए। आगे और देखिये:—

यच्छरीरं मनुष्याणामूर्ध्वपुण्ड्रविवर्जितम् ।
द्रष्टव्यं नैव तत् किंचित् श्मशानसदृशं भवेत् १२
ऊर्ध्वपुण्ड्रविहीनस्तु संध्याकर्मादिकं चरेत् ।
तत् सर्वं राक्षसैर्नीतं नरकं चाधिगच्छति ॥१३

'जिस मनुष्य के मस्तक पर ऊर्ध्वपुण्ड्र न हो, उसको कभी भी नहीं देखना चाहिये। वह मस्तक श्मशान के सदृश है ।१२। जो मनुष्य ऊर्ध्वपुण्ड्र के विना संध्यादि करता है, वह नरक को जाता है।

ब्राह्मणः कलजो विद्वान् भस्मधारी भवेद्यदि ।
वर्जयेत्तादृशं देवि मद्योच्छिष्टं घटं यथा ॥१६

यदि कुलीन ब्राह्मण माथे पर भस्म लगावे, तो उसका मदिरा से भरे घट के समान दर्शन न करे।

शिवपुराणादि शैव ग्रन्थ, शिव की प्रशन्सा से परिपूर्ण हैं किन्तु विष्णु, ब्रह्मा एवं शक्ति की उपासना तथा उनके वाह्य चिन्हों की भरपूर निन्दा करते हैं। शिव पुराण केवल शिव को ही ब्रह्म बताता है, शेष देवता अथवा अवतार उसकी दृष्टि में जीव मात्र हैं:—

शिवैको ब्रह्म रूपत्वान्निष्कल परिकीर्तितः ॥१०

निष्कलत्वान्निराकारं लिंगम् तस्य समागतम् ॥११
अब्रह्मत्वात्तदन्येषां निष्कलत्वं नहिक्वचित् ॥१३
ब्रह्मत्वाच्च जीवत्वात्तथान्ये देवता गणाः ॥१४
जीवत्वं शङ्करान्येषां ब्रह्मत्वं शङ्करस्य च ॥१५
शिवान्येषां च जीवत्वात् सकलत्वाच्च सर्वतः ॥२२
शि० पु० विद्ये० सं० अ० ५

शिव ही एक ब्रह्मरूप होने से निष्कल कहलाते हैं। १०। निष्कल होने से निराकार ही उसका स्वरूप और चिन्ह है। ११। शिव जी को छोड़ कर और देवता ब्रह्म नहीं अत. वे निष्कल नहीं हो सकते | १३। दूसरे देवता ब्रह्म नहीं जीव हैं। १४। शङ्कर के अतिरिक्त औरों में जीवत्व और शङ्कर में ब्रह्मत्व है। १५। शिव से अन्य देवता जीवरूप होने से सब प्रकार कलायुक्त ही हैं (निष्कल नहीं) २२।

शिव सामान्य वक्तारं शिव सामान्य दर्शिनं।
दृष्टवा स्नायात् सचैलं सन् शिव सामान्यसङ्गिनम् ॥७५

जो शिव के समान अन्य देवों को बतलाता है वा शिव समान देखता है, उसको देख कर कपड़ों सहित स्नान करना चाहिए।

महेशस्येव दासोऽयं विष्णुस्तेनानुकम्पितः ॥५
यह वेचारा विष्णु, शिवजी का दास है।
- इन्द्रोपेन्द्रादयः सर्वे महेशस्यैव किङ्कराः ॥६
इन्द्रादि सब देवता शिव के ही दास हैं।
तेन तुल्यो यदा विष्णुर्ब्रह्मा वा यदि गद्यते।
पष्टिवर्ष सहस्राणि विष्टायां जायते कृमिः ॥ १७
लिङ्ग पु० उत्तर भाग। अ० ११

जो मनुष्य विष्णु, ब्रह्मादि को शिव के समान कहता है, वह ६० हजार वर्ष तक विष्ठा का कीड़ा बनेगा।

शिवलिङ्गं समुत्सृज्य यजन्ते चान्यदेवताः।
स नृपः सह देशेन रौरवं नरकं व्रजेत् ॥३५
शिवभक्तो न यो राजा भक्तोऽन्येषु सुरेषु च।
स्वपतिं युवतिस्त्यक्त्वा यथा जारेषु राजते ॥३६
लिङ्ग पु० उत्तरभाग। अ० ११

शिवलिङ्ग की पूजा छोड़ कर जो अन्य देवताओं की पूजा करता है, वह राजा अपने देश सहित रौरव नरक में जाता है। जो राजा शिव की भक्ति न करके अन्य देव की भक्ति करता है, वह उस युवति के समान है, जो अपने पति को छोड़ कर जार पुरुष के साथ भोग करती है ॥३६

शैव ग्रन्थों में शिव द्वारा ब्रह्मा तथा विष्णु को युद्ध में पराजित करने का भी अनेक स्थानों पर वर्णन है। शिवाज्ञा से भैरव ने ब्रह्मा का पाँचवां शिर काट लिया और शिवजी ने विष्णु-अवतार नरसिंह की जो दुर्दशा की, उसका वर्णन पुराणों के ही शब्दों में हम नीचे देते हैं:—

नन्दिकेश्वर उवाचः—

ससर्जाथ महादेवः पुरुषं कञ्चिदद्भुतम्।
भैरवाख्यं भ्रुवो मध्याद् ब्रह्मदर्पजिघांसया ॥१
सर्वे तदा तत्र पतिं प्रणम्य शिवमांगणे।
किं कार्यं करवाण्यत्र शीघ्रमाज्ञापय प्रभोः ॥२
वत्स योऽयं विधिः साक्षाज्जगतामाद्यदैवतम्।
नूनमर्चय खड्गेन तिग्मेन जवसा परम् ॥३

सवै गृहीत्वैककरेण केशं, तत्पंचमं दृप्तमसत्यभाषिणम् ।
छित्वा शिरोह्यस्य निहन्तुमुद्यत. प्रकम्पयन्खड्ग मतिस्फुटं करैः॥४
पिता तवोत्सृष्ट विभूषणाम्बरस्त्रगुत्तरीयामलकेश संहितः ।
प्रवालरम्भेव लतेव चञ्चल. पपात वै भैरव पाद पङ्कजे ॥५

नन्दिकेश्वर बोले—तब महादेव जी ने ब्रह्माजी का मद दू करने के लिए अपनी भृकुटी के मध्य से एक अद्भुत पुरुष भैर की रचना की ।१। उत्पन्न होते ही समराङ्गण में उस पुरुष शिवजी को प्रणाम किया और कहा भगवन् ! मैं क्या करूं शीघ्र आज्ञा दीजिए । २ । शिवजी ने कहा—हे वत्स ! यह जो जगत् के आदि देवता ब्रह्मा हैं, इनकी तीक्ष्ण धार वाले वेगवा खड्ग से पूजा करो अर्थात् प्रहार करो । ३ । यह सुनते ही भैरव ने एक हाथ से केश पकड़ कर ब्रह्माजी का पाँचवाँ असत्यभाषी शिर काटते हुए खड्ग से उनके और भी शिर काटने की इच्छ की । ४ । तब तुम्हारे पिता ब्रह्माजी आभूषण, माला और उत्त रीय वस्त्र त्याग केश खोले हुए, वायुवेग से केला और लता के समान कम्पित, भैरव के चरणों में गिर पड़े । ५ ।

सहस्र बाहुर्जटिलश्चन्द्रार्द्ध कृत शेखरः ।
समृद्धोऽग्रशरीरेण पद्भ्यांचञ्चुना द्विजः ॥८॥
अति तीक्ष्णो महादंष्ट्रो वज्रतुल्यनखायुधः ।
कण्ठे कालो महाबाहुश्चतुष्पाद् वह्निसन्निभः ॥६॥
हरिस्तद्दर्शनादेव विनष्टबलविक्रमः ।
बिभ्रद्धाम सहस्रांशोरधः खद्योतविभ्रमम् ॥१०॥
अथ विश्रम्य पक्षाभ्याँ नाभिपादान् विदारयन् ।
पादान्बबन्धे पुच्छेन बाहुभ्याँ बाहुमण्डलम् ॥१३॥
भिन्दन्नुरसि बाहुभ्याँ निजग्राह हरो हरिम् ।
ततो जगाम गगनं देवैस्सह महर्षिभिः ॥१४॥

उड्डीयोड्डीय भगवान् पक्षघात विमोहितम् ।
हरिर्हरस्त वृषभं विवेशानन्त ईश्वरः ॥ १६ ॥

सहस्रों भुजाधारी, जटा रक्खे, अर्ध चन्द्रमा को मस्तक पर धारण किये, भयङ्कर शरीर से युक्त पंखों तथा चोंच से शोभायमान । ८ । अति तीक्ष्ण दाढ़ों वाले, वज्र के समान नख रूप शस्त्र धारे, कण्ठ में काल, दीर्घ भुजा वाले चार चरण सहित अग्नि के समान शङ्कर नृसिंह के सामने प्रकट हुए । ६ । उनके दर्शन मात्र से नृसिंह का बल पराक्रम नष्ट होगया, जैसे सूर्य के तेज से जुगनू का तेज नष्ट हो जाता है । १२ । तब अपने पक्षों को घुमा कर नाभि और चरणों को विदीर्ण करते हुए, तथा पूंछ से पैरों को, और दोनों भुजाओं से नृसिंह की भुजाओं को बाँधा । १३ । भुजाओं से हृदय को भेदन करते हुए शिव ने उन नृसिंहरूपधारी विष्णु को ग्रहण किया और देवता-महर्षियों के देखते-देखते आकाश को चले गये । १४ । उड़-उड़ कर भगवान् शिव ने पक्षों से विष्णु को व्याकुल कर दिया, तब विष्णु बैल के नीचे छुप गये । १६ ।

यह सम्प्रदाय भी, शैव चिन्हों की प्रशंसा तथा अन्यों की निन्दा में दूसरे सम्प्रदायों से पीछे नहीं है । इसकी दृष्टि में जो लोग भस्म, त्रिपुण्ड तथा रुद्राक्ष धारण नहीं करते, वे पातकी हैं—

उद्धूलनं त्रिपुण्डं च श्रद्धया नाचरन्ति ये ।
तेषा नास्ति समाचारो वर्णाश्रमसमन्वितः ॥ १३ ॥
ते महापातकैर्युक्ता इति शास्त्रीयनिर्णयः ॥ १६ ॥
दे० भा० स्कं० ५ अ० ६ ।

जो भस्म और त्रिपुण्ड को श्रद्धा से धारण नहीं करते, उनका वर्णाश्रम युक्त आचरण नहीं है । १३ । वे महापातकी हैं यह शास्त्रीय निर्णय है । १६ ।

नाऽश्नीयाज्जलमन्नमल्पमपि वा भस्माद्‌धृत्या विना ।
भुक्त्वा वाथ गृही वनी यतिमती वर्णी तथा सङ्करः ।
एनोभुङ् नरकं प्रयाति ॥ ४३ ॥
धिग्भस्मरहितं भालं धिग्ग्रामशिवालयम् ।
धिगनीशार्चनं जन्म धिग्विद्यामशिवाश्रयाम् । ४५ ॥
ने वै सङ्कर सूकरासुरखरश्वक्रोष्ट्र कीटोपमाः।
जाता एव भवन्ति पापपरमास्ते नारकाः केवलम् ॥ ४७ ॥

द० भा० ५-९

जो भस्म और रुद्राक्ष धारण नहीं करते उनका थोड़ा भी अन्नजल ग्रहण न करे। गृहस्थी, वनी, यति, वर्णी अथवा सङ्कर जाति, इनके यहां का भोजन करके पाप खाने वाला होता है और नरक को जाता है। ४३। भस्म रहित मस्तक, शिवालय रहित ग्राम, ईश के अर्चन रहित जन्म, शिवाश्रयहीन विद्या को धिक्कार है। ४५। जो तीनों जगत् के आधार शङ्कर की निन्दा करता है और जो त्रिपुण्ड धारण करने वाले की निन्दा करते हैं उनके दर्शन में दोष है। ४६। वे निश्चय ही वर्णसङ्कर, शूकर असुर, खर, श्वान, गीदड़, कीट के समान हैं। ये पापरूप उत्पन्न हुए हैं। केवल नरक में ही जाने को जन्म लिया है।

देवी भागवत शाक्तों का एक मात्र पुराण है। इसने विष्णु, तथा विष्णु-अवतार राम, कृष्णादि की निन्दा करने में कोई कोर कसर नहीं छोड़ी। सब को ही जी भर कर नीचा दिखाया है। अवतारों को पिछले दुष्कर्म तथा शापों का परिणाम बताया है। शिव और ब्रह्मा को निन्दा तथा निकृष्टता का भी स्थान स्थान पर वर्णन है।

देवी भागवत में एक कथा आती है कि ब्रह्मा, विष्णु और शिव तीनों देवी के दर्शन करने गये। देवी ने तीनों को स्त्री

बना दिया। ब्रह्मा कहते हैं कि हे नारद ! मैंने जो वहां देखा सुनो:—

शृणु नारद सं वक्ष्यामि यद्दृष्टं तत्रचाद्भुतम्।
नख दर्पण मध्ये वै देव्याश्चरण पङ्कजे ॥ १४
ब्रह्माण्डमखिलं सर्वं तत्र स्थावर जङ्गमम्।
अहं विष्णुश्च रुद्रश्च वायुरग्निर्यमो रविः ॥१५॥
वरुणः शीतगुस्त्वष्टा कुवेर. पाकशासनः।
पर्वता. सागरा नद्यो गन्धर्वाप्सरसस्तथा ॥ १६॥
वैकुण्ठो ब्रह्मलोकश्च कैलासः पर्वतोत्तमः।
सर्वं तदखिलं दृष्टं नखमध्यास्थितं च नः ॥१६॥
मज्जन्म पङ्कजं तत्र स्थितोऽहं चतुराननः।
शेषशायी जगन्नाथस्तथा च मधुकैटभौ ॥२०॥
विष्णुश्च विस्मयाविष्ट. शंकरश्च तथा स्थित.।
ता तदा मेनिरे देवीं वयं विश्वस्य मातरम् ॥ २२॥

दे० भा० स्कं० ३ अ० ४ (वेङ्कटेश्वर प्रेस बम्बई)

देवी के चरण कमल के नख के मध्य में सब स्थावर जङ्गम ब्रह्माण्ड तथा विष्णु, रुद्र, वायु, अग्नि, यम, सूर्य, वरुण, चन्द्रमा, त्वष्टा, कुवेर, पर्वत, सागर, नदी, गन्धर्व, अप्सरा, वैकुण्ठ, ब्रह्मलोक, पर्वतों में उत्तम कैलाश, यह सब वस्तु हमने स्थित देखीं। (१४, १५, १६, १६) और कमल के मध्य से अपना जन्म तथा कमल पर अपने को स्थित देखा। शेपशायी जगन्नाथ और मधुकैटभ को देखा। २०। विष्णु और शङ्कर भी आश्चर्य में मग्न हुए। तब हम सबने विश्व की माता को पहचाना। २२

तदनन्तर अत्यन्त नम्र तथा दीन भाव से ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव द्वारा देवी की स्तुति का विस्तृत वर्णन है जिसे

विस्तार भय से हम यहाँ उद्धृत नहीं करते ।

विष्णु के अनेक अवतारों का कारण भृगु ऋषि का शाप बताते हुए देवी भागवत में विष्णु को अत्यन्त अपमानित करने का प्रयत्न किया गया है। इन्द्र के कहने पर विष्णु ने अपने सुदर्शन चक्र से भृगु की पत्नी का शिर काट लिया। उसके मरने पर दुःखी हो कर भृगु ने जो शाप दिया, वह निम्नाङ्कित है.—

अकृतं ते कृतं विष्णु जानन् पापं महामते ।
वधोऽस्य विप्रजातायाः मनसा कर्त्तुमक्षमः ॥३॥
तामसस्त्वं कथं जातः कृतं कर्मातिनिन्दितम् ।
अवध्या स्त्री त्वया विष्णो हता कतिनिन्दिरागसा ॥४॥
शपामि त्वां दुराचारं किमन्यत्प्रकरोमि ते ।
विधुरो ऽहं कृतं पापं त्वयाऽयं शक्रकारणात् ॥५॥
न शपेऽहं तथा शक्रं शपे त्वां मधुसूदन ।
सदा छल परोऽसि त्वं कीटयोनिदुराशय ॥६॥
ये च त्वा सात्विकं प्राहुस्ते मूर्खा मुनय किल ।
तामसस्त्वं दुराचारः प्रत्यक्षं मे जनार्दन ॥७॥
अवतारा मृत्युलोके सन्तु मच्छाप सम्भवा ।
प्रायो गर्भभवं दुःखं भुंक्ष्व पापाज्जनार्दन ॥८

दे० भा० स्कं०।४। अ० १२

हे मधुसूदन ! तुमने अत्यन्त बुद्धिमान् होकर भी जान कर ऐसा अकार्य किया। जिस विप्र कन्या का वध मन से भी नहीं विचारा जा सकता उसको तुमने साक्षात् कर डाला।३। हे विष्णु ! तुमने किस लिये तमोगुण-युक्त होकर अतिनिन्दित कर्म किया ? स्त्री जाति अवध्य है। तुमने बिना अपराध इस अबला को क्यों मारा ? ।४। तुम्हारा यह आचरण अत्यन्त

निन्दित है। इस समय मैं तुम्हारा क्या करूं? तुमको शाप देना ही उचित है। हे पापिष्ट! तुमने इन्द्र के कारण मुझको विधुर बना दिया। ५। मैं इन्द्र को शाप न देकर तुमको ही शाप दूंगा। तुम सदा सर्प की भांति कपट व्यवहार करते हो। तुम दुष्ट हो।६। जो मुनि तुमको सतोगुणी कहते हैं वे अत्यन्त मूर्ख हैं। तुम तामसी और दुराचारी हो, यह मैंने आज प्रत्यक्ष जान लिया।६। तुम मेरे शाप से मृत्युलोक में अनेक बार अवतार लोगे और गर्भ की यन्त्रणा द्वारा अपने पाप का फल भोगोगे।८।

इसी पुराण में आगे फिर लिखा है:—

शप्तो हरिस्तु भृगुणा कुपितेन कामं मीनो बभूवकमठः खलु सूकरस्तु। पश्चान्नृसिंह इति यच्छलकृद्धरायां तान्सेवतां जननि मृत्युभयं न किं स्यात्॥ १८। दे० भा० स्कं० ५। अ० १६॥

हे जननि! प्रकुपित भृगु मुनि के शाप से ही हरि पृथ्वी मे मीन, कूर्म, शूकर, नृसिंह और वंचनातत्पर वामन इत्यादिक रूप धारण करके अवतीर्ण हुए थे। इसमें उनकी पराधीनता ही है। जो इन पराधीन अवतारों की सेवा करते हैं उनको मृत्युभय क्यों न होगा?

> किं चित्रं नृप देवी सा ब्रह्मा विष्णु सुरानपि।
> नर्तयत्यनिशं माया त्रिगुणानपरान् किम्॥
> गर्भवासोद्भवं दुःखं विण्मूत्रस्नायु संयुतम्।
> विष्णोरापादितं सम्यग् यया विग- लीलया॥५
> पुरा रामावतारेऽपि निर्जरा वानराः कृताः।
> विदितं ते तथा विष्णुः दुःख पाशेन मोहितः॥ ६
>
> दे० भा० स्कं ४। अ० २०

हे नृपते! त्रिगुणा माया देवी ब्रह्मा विष्णु इत्यादि देवगणों

और ब्रह्मा से कहा—तुमने असत्य भाषण किया है अतः तुम्हारी पूजा नहीं होगी .—

नातस्ते सत्कृतिर्लोके भूयात्स्थानोत्सवादिकम् ।

ब्रह्मवैवर्त पुराण कृष्ण जन्म खण्ड अ० ३२ में भी इसी आशय की एक कथा दी हुई है, जिसके द्वारा ब्रह्मा को अपूज्य ठहराया गया है वहा है कि विष्णु की प्रिया मोहनी एक वार कामातुर होकर ब्रह्मा पास गई। ब्रह्मा ने विष्णु की प्रिया होने के कारण इसका निषेध किया तब मोहनी ने ब्रह्मा को शाप दिया कि जाओ तुम्हारी संसार में पूजा न होगी। ब्रह्मा ने विष्णु को जाकर समस्त वृतान्त सुनाया। विष्णु ने शाप दूर करने का उपाय गङ्गा स्नान बताया और कहा कि तुम्हारी पृथक् पूजा तो न होगी, किन्तु अन्य देवों के साथ होगी.—

यदन्यदेवपूजाया तव पूजा भविष्यति ।

उपर्युक्त सभी कथाएं विचित्र हैं, जिनमें किसी न किसी प्रकार ब्रह्मा के शिर दोष मढ़कर उसकी पूजा का निषेध किया गया है। अन्यथा पुराणों में विष्णु और शिव को कलङ्कित करने वाली कथाओं की ब्रह्मा से कहीं अधिकता है। फिर ब्रह्मा को ही क्यों लक्ष्य बनाया गया? हमारा विचार है कि अब्राह्मणों ने जिनका कि मूर्तिपूजा के प्रचार में विशेष हाथ है, ब्राह्मणत्व के प्रतीक ब्रह्मा को अपमानित करने के लिए ही इन कथाओं की रचना की और इसे अपूज्य ठहराया।

जैसा कि हम पूर्व सिद्ध कर चुके हैं मूर्तिपूजा का जन्म बौद्ध-काल में हुआ और सर्वप्रथम बुद्ध की मूर्ति इस देश में पूजी जाने लगी। भगवान् बुद्ध स्वयं क्षत्रिय वंशज थे और उनका

प्रचार-क्षेत्र भी स्वभावत. ब्राह्मणेतर जातियों में ही रहा। बौद्धों की देखा-देखी बौद्ध धर्म के ह्रास के पश्चात् बुद्ध की मूर्ति का स्थान 'महेश्वर' और 'विष्णु' ने ले लिया। यह दोनों काल्पनिक देव भी ब्राह्मणत्व का प्रतीक न होकर क्षत्रियत्व का ही विशेष रूप से प्रतिनिधित्व करते हैं। संहार और पालन शक्ति क्षत्रियत्व का ही प्रतीक है। शाक्तों की 'शक्ति-पूजा' तो 'क्षात्र-धर्म' प्रधान है ही।

विष्णु के मुख्यावतार 'राम' तथा 'कृष्ण' जिनकी पूजा का इस समय समस्त देश में प्रचार है और जिन्हें पूर्णावतार माना जाता है, क्षत्रिय वंशज ही थे। समस्त अवतारों मे 'परशुराम' ही ब्राह्मण माने जाते हैं, जिनकी कहीं भी पूजा नहीं होती। अतः ब्राह्म धर्म के प्रतीक, वेदोपदेष्टा, याज्ञिक ब्रह्मा अथवा उसकी मूर्ति का ब्राह्मणेतर जातियों तथा क्षत्रिय राजाओं की राज्यवृत्ति पर पलने वाले लोलुप ब्राह्मणों द्वारा पुराणों में वहिष्कार करने का प्रयत्न कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

ब्रह्मा वैदिक-ज्ञान का आदि प्रचारक है। यज्ञानुष्ठान के चार ऋत्विजों मे 'ब्रह्मा' का मुख्य स्थान है। किन्तु शैव, शाक्त एवं वैष्णव, सम्प्रदायों में वेद के स्थान पर अपने-अपने पुराणों और यज्ञ के स्थान पर अपने अपने उपास्य देवों की मूर्तियां तथा मठ-मन्दिरों को प्रधानता दी गई है। शाक्त, यज्ञानुष्ठान करते हैं, किन्तु उसमें मांस मदिरा की आहुति तथा पशुबलि के पोषक हैं, जो सर्वथा अवैदिक कर्म हैं।

पुराणों मे ऐसी कथाएं भी हैं, जिनमें शिव ने यज्ञों का विध्वंस किया। पद्मपुराण सृष्टि खण्ड अ०१७ में एक कथा आती है कि एक समय ब्रह्मा यज्ञ कर रहे थे। महादेव यज्ञशाला मे भिक्षा मांगने के लिये पञ्चसूत्र धारण किए तथा एक बड़ी

खोपड़ी हाथ में लिए ऋत्विज के समीप आकर बैठ गये। यह देखकर वेदपाठी ब्राह्मणों ने कहा कि तुम इस प्रकार का निन्दित वेश बनाए यज्ञशाला में कैसे चले आये ? उन्हें यज्ञशाला से निकालने के अनेक प्रयत्न किये गये, किन्तु वह न गये। अन्त में उन्हें भोजन कराकर सन्तुष्ट किया गया। तब कहीं यह कहकर कि हम पुष्कर स्नान के लिये जा रहे हैं वे वहाँ से टले, किन्तु अपना कपाल वहीं यज्ञ शाला में ही छोड़ गये जिसे ब्राह्मणों ने बाहर फैंक दिया। एक कपाल के फैंके जाने पर दूसरा कपाल वहाँ दिखाई देने लगा। इस प्रकार एक कपाल के फैंके जाने पर वहाँ फिर दूसरा कपाल उपस्थित हो जाता था। और हजार तक फैंके जाने पर भी उनका अन्त नहीं हुआ। विवश होकर ब्राह्मण, ब्रह्मा सहित पुष्कर गये और शिव की बड़ी स्तुति-प्रार्थना करने पर वह कपाल वहाँ से हटा। एक मन्वन्तर बीत जाने पर पुनः ब्रह्मा के यज्ञ में शिवजी आ उपस्थित हुए। इस बार भी वह अपने उसी नग्न वेश में उपस्थेन्द्रिय को हाथ में लिये यज्ञमंडप में आगये। लोगों ने उन्हें पुन. धिक्कारा और घसीट कर बाहर कर दिया और कहा कि स्त्रियों की उपस्थिति मे तुम्हारा इस प्रकार प्रवेश निन्दनीय है। इस पर क्रुद्ध होकर शिव ने ब्राह्मणों को अनेक शाप दिये।

एक दूसरी कथा शिव द्वारा अपने श्वसुर राजा दक्ष के यज्ञ विध्वंस की इसी पद्म पुराण सृष्टि खंड अ० ५ में आई है। दक्ष ने अपने यज्ञ में शिव को आमन्त्रित नहीं किया। उसका कारण दक्ष ने जो पार्वती को बताया, वह शिव के आसुरी कापालिक स्वरूप का भली प्रकार दिग्दर्शन कराता है। दक्ष ने कहा—तुम्हारे पति खोपड़ी का पात्र लिये रहते हैं। चर्म ओढते हैं, चिता की भस्म लगाते हैं और नंगे रहते हैं। श्मशान भूमि में निवास

करते है एवं व्याघ्र चर्म धारण करते हैं। हाथी का चर्म भी ओढ़ते हैं जिसमे रक्त के बिन्दु टपकते रहते हैं। मरे हुए मनुष्यों के कपालों की माला गले में पहने रहते हैं। इन्हीं अनेक कारणों से हमें लज्जा आती है और उन्हें अन्य देवों के साथ आमन्त्रित करके, उनके साथ बिठाने मे संकोच होता है।

शिव के इस प्रकार अपमानित होने पर उनके प्रमुख गण वीरभद्र ने अन्य गणों सहित इस यज्ञ को विध्वंस किया। यज्ञ-शाला में आग लगादी, देवताओं को मार गिराया, विष्णु से घोर युद्ध हुआ। अन्त मे विष्णु परास्त हुए और उनका शिर काट कर यज्ञ कुण्ड में डाल दिया। ऋषि, मुनि इधर-उधर भागने लगे। 'सरस्वती' और 'वेदमाता' की नासिका वीरभद्र ने अपने तीक्ष्ण नखों से उखाड़ ली और प्रजापति का शिर काट कर अग्नि मे दग्ध कर दिया इत्यादि। यह विस्तृत कथा शैव सम्प्रदाय की वेद एवं यज्ञ विरोधी प्रवृत्ति का भली भाँति चित्रण करती है।

उपर्युक्त दोनों कथाएं हमारी इस धारणा को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि शैव, वैदिक यज्ञों के विरोधी थे और रामायण काल के राक्षसों की भाँति यज्ञ विध्वंसक ही थे। उनकी प्रचलित शिवलिङ्ग पूजा, जिस पर कि हम आगे इसी अध्याय में पृथक् प्रकाश डालेंगे, वाममार्ग के भैरवी चक्र की स्त्री-पुरुष-गुप्तेन्द्रिय की पूजा की प्रतीक मात्र है। भैरवी चक्र का भैरव भी शिव का एक मुख्य गण है और इस प्रकार इस सम्प्रदाय का शाक्तों के वाममार्ग से निकट का सम्बन्ध है।

वैष्णव यद्यपि मांस, मदिरा का घोर विरोध करते हैं तथापि यज्ञ के स्थान पर मूर्तिपूजा का प्रचलन विशेषतः इसी सम्प्रदाय ने किया है जैसा कि हम पूर्व लिख चुके हैं, अवतारवाद तथा

मूर्तिपूजा को प्रोत्साहन वैष्णवो से ही मिला । भागवत को 'पंचम वेद' बताना, वेद व्यास का वेद-शास्त्र सब ही से अतृप्त होकर भागवत रचने की कल्पना तथा कलियुग में तप, योग, समाधि को निष्फल बताकर केवल राम कृष्णादि के नाम मात्र कीर्तन को ही मुक्ति का सरलमार्ग बताना, यह सस्ते क्रिया कलाप वेदमार्ग से विमुख करने वाले दुष्प्रयास ही कहे जा सकते हैं ।

इस सम्प्रदाय की परस्त्री गमनादि व्यभिचार-पूर्ण प्रवृत्ति इसे भी वाममार्ग के निकट ही ला खड़ा करती है । इसके उपास्यदेव भगवान् विष्णु का जालंधर की पतिव्रता स्त्री वृन्दा के सतीत्व नष्ट करने की प्रसिद्ध कथा, कृष्णावतार का कुब्जा दासी के साथ सम्भोग, गोप कन्या राधा के साथ अनुचित प्रेम एवं सम्भोग तथा अन्य इसी प्रकार की कथायें, जिन पर विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं, इस सम्प्रदाय में व्यभिचार को प्रोत्साहन देने के लिये पर्याप्त हैं । कृष्ण के साथ, उनकी पत्नियों के होते हुये भी, पूजा मे राधा को स्थान देना, पर-स्त्री गमन के लिए खुला प्रोत्साहन है । इसके परिणामस्वरूप पुराणों की दृष्टि मे कृष्ण की लीलास्थली व्रज में किया हुआ व्यभिचार व्यभिचार ही नहीं । दक्षिण में इस सम्प्रदाय के सद्गृहस्थों द्वारा अपनी कन्याओं का विष्णुमूर्ति से विवाह करके उन्हें मन्दिरों में गाने बजाने के लिये छोड़ देना, समय-समय पर इस सम्प्रदाय के गोस्वामियों, साधु-महन्तों द्वारा अपनी चेलियों के साथ होने वाली दुराचारपूर्ण दुर्घटनायें—वाममार्ग के परस्त्री-गमनादि दुष्कृत्यों की पुनरावृत्ति मात्र ही हैं ।

पुरी का जगन्नाथ का मन्दिर इस वाममार्ग प्रवृत्ति का एक जीता जागता उदाहरण है । मन्दिर पर अंकित व्यभिचारपूर्ण

चित्र, समस्त वैष्णवों का एक पंक्ति में उच्छिष्ट पत्तलों पर सखरा दाल भात का विना किसी भेद भाव के खान-पान वाम मार्ग का ही रूपान्तर मात्र है। अत वैष्णव सम्प्रदाय भी वाममार्ग के प्रभाव से अछूता नहीं है। ऐसी अवस्था मे वेद और यज्ञ के प्रवर्त्तक ब्रह्मा का, इन सम्प्रदायों द्वारा बहिष्कार करना अस्वाभाविक नहीं है।

वेदादि आर्य धर्म शास्त्रों मे दैनिक पंच यज्ञों में "देव-यज्ञ" का विशेष महत्व है। इसे देव-पूजा भी इसलिये कहा जाता है कि अग्निहोत्र द्वारा आकाशादि पांच भौतिक देवों की पूजा अथवा शुद्धि अभिप्रेत है। इसी 'देव-पूजा' शब्द का इन सम्प्रदायों द्वारा ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि कल्पित देवों की पूजा अर्थ लगाया जाने लगा और इन ही देवों की मूर्तिपूजा ने कुछ काल में इस देव यज्ञ का स्थान ग्रहण कर लिया। मूर्तिपूजा को प्रोत्साहन देने के लिये यज्ञों का महत्व घटाना आवश्यक भी था। कालान्तर मे जिन यज्ञों का रामायण और महाभारत काल मे सर्वत्र प्रचार था, उनका स्थान विभिन्न प्रकार की मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रा आदि ने ले लिया। जहाँ वड़े-वड़े अश्वमेधादि यज्ञ होते थे, वहा अव केवल मूर्तियों के सम्मुख धूप-दीप मात्र शेष रह गया।

शिवलिंग पूजा—

हमारे देश में जिन देव मूर्तियों की पूजा की जाती है, उनमें शिवलिंग का एक विशेष स्थान है। अन्य देवों अथवा अवतारों की मूर्तियां उनके समस्त शरीर के आकार की होती हैं, किन्तु शिवलिंग जैसा कि नाम से ही सुस्पष्ट है, शिव की उपस्थेन्द्रिय की आकृति है। उपस्थेन्द्रिय की पूजा जैसा कि हम पूर्व लिख चुके हैं वाम मार्ग के भैरवी चक्र की एक मुख्य प्रक्रिया है। अतः यह शिवलिंग पूजा भी उसका ही प्रतीक है।

उचित तो यह था कि देश के विचारशील विद्वान् मूर्तिपूजा के इस अश्लील तथा अशिष्ट प्रकार के विरुद्ध आवाज उठाते और इसका प्रचार रोकने का प्रयत्न किया जाता, किन्तु इसके विपरीत इस 'शिवलिंग' शब्द की नवीन व्याख्या द्वारा सत्य को छिपाने का अनुचित प्रयत्न किया जाता है जो कि पुराणों में दी हुई अनेक साक्षियों के भी सर्वथा विपरीत है इन नवीन व्याख्याताओं का कहना है कि 'लिङ्ग' का अर्थ उपस्थेन्द्रिय न होकर 'चिन्ह' है, अत उनके अनुसार 'शिवलिङ्ग' का अर्थ 'शिव का चिन्ह' हुआ। 'लिंग' का अर्थ निश्चय ही 'चिन्ह' है इसमें किसी को विवाद नहीं हो सकता। जन्म से लेकर मरण पर्यन्त उपस्थेन्द्रिय ही ऐसा चिन्ह है जो स्त्री पुरुष का वर्गीकरण करता है, अत कालान्तर में लिंग शब्द ही उपस्थेन्द्रिय का पर्यायवाची बन गया। किन्तु प्रश्न तो यह है कि यहां पुराणों की सुस्पष्ट कथाओं और अनेक साक्षियों के होते हुए क्या 'लिङ्ग' शब्द का अर्थ उपस्थेन्द्रिय के अतिरिक्त कुछ और भी हो सकता है? पुराणों से कुछ ऐसी ही साक्षियां हम यहा संक्षेप में प्रस्तुत करते हैं —

शिवपुराण कोटि रुद्र संहिता ४, अ० १२ में दारु वन की एक कथा आती है—

दारु नाम वनं श्रेष्ठं तत्रासन्नृपिसत्तमाः।
शिवभक्ता. सदा नित्य शिवध्यानपरायणाः ॥६
ते कदाचिद्वने याता समिधाहरणाय च।
सर्वे द्विजर्षभाः शैवा शिवध्यानपरायणाः ॥८
एतस्मिन्नंतरे साक्षाच्छंकरो नीललोहित।
विरूपं च समास्थाय परीक्षार्थं समागत. ॥६
दिगम्बरोऽति तेजस्वी भूतिभूपणभूपितः।

स चेष्टां सकदत्तां च हस्ते लिङ्गं विधारयन् ॥१०
मनसा च प्रियं तेषां कर्तुं वै वनवासिनाम् ।
जगाम तद्वनं प्रीत्या भक्तप्रीतो हरः स्वयम ॥११
तं दृष्ट्वा ऋषिपत्न्यस्ताः परं त्रासमुपागताः ।
विह्वला विस्मिताश्चान्याः समाजग्मुस्तथा पुन ॥१२
आलिलिंगुस्तथा चान्याः करं धृत्वा तथा पराः ।
परस्परं तु संघर्षात्संमग्नास्ताः स्त्रियस्तदा ॥१३
एतस्मिन्नेव समये ऋषिवर्याः समागमन् ।
विरुद्धं तं च ते दृष्ट्वा दुःखिताः क्रोधमूर्च्छिताः ॥१४
तदा दुःखमनुप्राप्ताः कोऽयं कोऽयं तथा ब्रुवन् ।
समस्ता ऋषयस्ते वै शिवमायाविमोहिताः ॥१५
यदा च नोक्तवान् किंचित्सोऽवधूतो दिगम्बरः ।
ऊचुस्तं पुरुषं भीमं तदा ते परमर्षयः ॥१६
त्वया विरुद्धं क्रियते वेदमार्गविलोपि यत् ।
ततस्त्वदीयं तल्लिंग पततां पृथिवीतले ॥१७
इत्युक्ते तु तदा तैश्च लिंगं च पतितं क्षणात् ।
अवधूतस्य तस्याशु शिवस्याद्भुतरूपिणः ॥१८
तल्लिंगं चाग्निवत्सर्वं यद्ददाह पुरः स्थितम् ।
यत्र यत्र च तद्याति तत्र तत्र दहेत्पुन. ॥१९
पाताले च गतं तच्च स्वर्गे चापि तथैव च ।
भूमौ सर्वत्र तद्यातं न कुत्रापि स्थिरं हि तत् ॥२०
लोकाश्च व्याकुला जाता ऋषयस्तेऽति दु.खिता ॥२१
दु.खिता. मिलिताः शीघ्रं ब्रह्माणं शरणं ययुः ॥२२
मुनीशांस्तांस्तदा ब्रह्मा स्वयं प्रोवाच वै तदा ॥३१
आराध्य गिरिजां देवीं प्रार्थयन्तु सुराः शिवम् ।
योनिरूपा भवेच्चेद्वै तदा तत्स्थिरता व्रजेत् ॥३२

उचित तो यह था कि देश के विचारशील विद्वान् मूर्तिपूजा के इस अश्लील तथा अशिष्ट प्रकार के विरुद्ध आवाज उठाते और इसका प्रचार रोकने का प्रयत्न किया जाता, किन्तु इसके विपरीत इस 'शिवलिंग' शब्द की नवीन व्याख्या द्वारा सत्य को छिपाने का अनुचित प्रयत्न किया जाता है जो कि पुराणों में दी हुई अनेक साक्षियों के भी सर्वथा विपरीत है इन नवीन व्याख्याताओं का कहना है कि 'लिङ्ग' का अर्थ उपस्थेन्द्रिय न होकर 'चिन्ह' है, अत उनके अनुसार 'शिवलिङ्ग' का अर्थ 'शिव का चिन्ह' हुआ। 'लिंग' का अर्थ निश्चय ही 'चिन्ह' है इसमें किसी को विवाद नहीं हो सकता। जन्म से लेकर मरण पर्यन्त उपस्थेन्द्रिय ही ऐसा चिन्ह है जो स्त्री पुरुष का वर्गीकरण करता है, अत. कालान्तर में लिंग शब्द ही उपस्थेन्द्रिय का पर्यायवाची बन गया। किन्तु प्रश्न तो यह है कि यहां पुराणों की सुस्पष्ट कथाओं और अनेक साक्षियों के होते हुऐ क्या 'लिङ्ग' शब्द का अर्थ उपस्थेन्द्रिय के अतिरिक्त कुछ और भी हो सकता है ? पुराणों से कुछ ऐसी ही साक्षिया हम यहा संक्षेप में प्रस्तुत करते हैं —

शिवपुराण कोटि रुद्र संहिता ४, अ० १२ में दारु वन की एक कथा आती है—

दारु नाम वन श्रेष्ठं तत्रासनृपिसत्तमाः ।
शिवभक्ता सदा नित्य शिवध्यानपरायणाः ॥६
ते कदाचिद्वने याता. समिधाहरणाय च ।
सर्वे द्विजर्षभाः शैवाः शिवध्यानपरायणाः ॥८
एतस्मिन्नंतरे साक्षाच्छंकरो नीललोहित ।
विरूपं च समास्थाय परीक्षार्थं समागत. ॥६
दिगम्वरोऽति तेजस्वी भूतिभूपणभूपितः ।

स चेष्टां सकृद्त्तां च हस्ते लिङ्गं विधारयन् ॥१०
मनसा च प्रियं तेषां कर्तुं वै वनवासिनाम् ।
जगाम तद्वनं प्रीत्या भक्तप्रीतो हरः स्वयम ॥११
तं दृष्ट्वा ऋषिपत्न्यस्ताः परं त्रासमुपागताः ।
विह्वला विस्मिताश्चान्याः समाजग्मुस्तथा पुनः ॥१२
आलिलिंगुस्तथा चान्याः करं धृत्वा तथा पराः ।
परस्परं तु संघर्षात्संमग्नास्ताः स्त्रियस्तदा ॥१३
एतस्मिन्नेव समये ऋषिवर्याः समागमन् ।
विरुद्धं तं च ते दृष्ट्वा दुःखिताः क्रोधमूर्च्छिताः ॥१४
तदा दुःखमनुप्राप्ताः कोऽयं कोऽयं तथा ब्रुवन् ।
समस्ता ऋषयस्ते वै शिवमायाविमोहिता ॥१५
यदा च नोक्तवान् किंचित्सोऽवधूतो दिगम्बरः ।
ऊचुस्तं पुरुषं भीमं तदा ते परमर्षयः ॥१६
त्वया विरुद्धं क्रियते वेदमार्गविलोपि यत् ।
ततस्त्वदीयं तल्लिंग पततां पृथिवीतले ॥१७
इत्युक्ते तु तदा तैश्च लिंगं च पतितं क्षणात् ।
अवधूतस्य तस्याशु शिवस्याद्भुतरूपिणः ॥१८
तल्लिंगं चाग्निवत्सर्वं यद्ददाह पुरः स्थितम् ।
यत्र यत्र च तद्याति तत्र तत्र दहेत्पुनः ॥१९
पाताले च गतं तच्च स्वर्गे चापि तथैव च ।
भूमौ सर्वत्र तद्यातं न कुत्रापि स्थिरं हि तत् ॥२०
लोकाश्च व्याकुला जाता ऋषयस्तेऽति दुःखिता ॥२१
दुःखिताः मिलिताः शीघ्रं ब्रह्माणं शरणं ययुः ॥२२
मुनीशांस्तांस्तदा ब्रह्मा स्वयं प्रोवाच वै तदा ॥३१
आराध्य गिरिजां देवीं प्रार्थयन्तु सुराः शिवम ।
योनिरूपा भवेच्चेद्वै तदा तत्स्थिरता व्रजेत् ॥३२

पूजित. परया भक्त्या प्रार्थितः शङ्करस्तथा ।
सुप्रसन्नस्ततो भूत्वा तानुवाच महेश्वर. ॥४४
हे देवा ऋषय. सर्वे मद्वच. श्रणुतादरात् ।
योनि रूपेण मल्लिंङ्गं धृतं चेत्स्यात्तदा सुखम् ॥४५
पार्वतीं च विना नान्या लिङ्गं धारयितुं क्षमा ।
तया धृतं च मल्लिंगं द्रुतं शान्ति गमिष्यति ।४६
प्रसन्ना गिरिजा कृत्वा वृषभध्वजमेव च ।
पूर्वोक्तं च विधिं कृत्वा स्थापितं लिङ्गमुत्तमम् ॥४८

दारु नाम का एक वन था, वहाँ पर सत्पुरुष लोग रहते थे, जो शिव के भक्त थे तथा नित्य प्रति शिव का ध्यान किया करते थे। ६। वे कभी लकड़ियाँ चुनने के लिये सब के सब श्रेष्ठ ब्राह्मण, जो शिव के भक्त तथा शिव का ध्यान करने वाले थे वन में गये ।८। इतने में साक्षात् महादेव जी विकट रूप धारण कर उनकी परीक्षा के निमित्त आ पहुँचे ।६। नङ्गे, अति तेजस्वी, विभूति भूषण से शोभायमान, कामियों के समान दुष्ट चेष्टा करते हुए, हाथ में लिंग धारण करके ।१०। मन से उन वनवासियों का भला करने के लिये भक्तों पर प्रसन्न होकर शिव जी स्वयं प्रीति से उस वन में गये ।११। उसको देखकर ऋषि पत्नियाँ अत्यंत भयभीय होगईं, व्याकुल तथा आश्चर्यान्वित हुईं, कई लौट आईं ।१२। कई आलिंगन करने लगीं, कई ने हाथ मे धारण कर लिया तथा परस्पर के सङ्घर्ष से वे स्त्रियाँ मग्न होगईं ।१३। इतने मे ऋषि आगये और इस प्रकार के विरुद्ध काम को देख कर वे दु.खी हुए। क्रोध से मूर्छित होगये। १४। तब दुःख को प्राप्त हुए कहने लगे—यह कौन है ? वे सब के सब ऋषि शिव की माया से मोहित हो गये ।१५। जब उस नंगे अवधूत ने कुछ भी उत्तर न दिया, तब वे परम ऋषि उस भयङ्कर पुरुष को यों कहने लगे ।१६। तुम जो यह

वेदमार्ग को लोप करने वाला विरुद्ध काम करते हो इसलिये तुम्हारा यह लिंग पृथिवी पर गिर पडे। १७। उनके इस प्रकार कहने पर उस अद्भुत रूपधारी अवधूत शिव का लिंग उसी समय गिर पड़ा।१८। उस लिंग ने सब कुछ जो आगे आया अग्नि की भांति जला दिया। जहाँ-जहाँ वह जाता था वहाँ-वहाँ सब कुछ जला देता था। १६। वह पाताल में भी गया, वह स्वर्ग में भी गया, वह भूमि में सब जगह गया किन्तु वह कहीं भी स्थिर नहीं हुआ। २०। सारे लोक-लोकान्तर व्याकुल होगये तथा वे ऋषि अति दुखित हुए। २१। वे दुखी हुए सब मिलकर ब्रह्मा के पास गये। २२। तब ब्रह्मा उन ऋषियों को स्वयं कहने लगे। ३१। हे देवताओ! पार्वती की आराधना करके शिव की प्रार्थना करो, यदि पार्वती योनि रूप हो जावें तो वह लिंग स्थिरता को प्राप्त हो जावेगा। ३२। तब उन ऋषियों ने परम भक्ति से शंकर की प्रार्थना और पूजा की। तब अति प्रसन्न होकर शिव उनसे बोले। ४४। हे देवता और ऋषि लोगो! आप सब मेरी बात को आदर से सुनें। यदि मेरा लिंग योनि रूप से धारण किया जावे तब शान्त हो सकता है। ४५। मेरे लिंग को पार्वती के बिना और कोई धारण नहीं कर सकता। उससे धारण किया हुआ पूरा लिंग शीघ्र ही शान्ति को प्राप्त हो जावेगा। ४६। पार्वती तथा शिव को प्रसन्न करके पूर्वोक्त विधि के अनुसार वह उत्तम लिंग स्थापित किया गया। ४८।

कथा अत्यंत अश्लील है किंतु प्रकरणवश देनी ही पड़ी। इस कथा में जिस शिवलिंग तथा योनि का वर्णन है, शिवालयों में स्थापित लिंग और जलहरी उसी की आकृति है। इसी लिंग को शान्त रखने के लिये शिवलिंग पर जलपूर्ण घट रक्खा

जाता है। इन समस्त बातों का शिवपुराण में सविस्तार वर्णन है। इसी प्रकार पद्मपुराण षष्ठ उत्तर खंड अ० २५५ में लिखा है-भृगु ऋषि को आता देखकर भी शिव जी पार्वती के संग मत्त रहे अत: भृगु ने उन्हे शाप दिया :—

नारी संगममत्तो ऽसौ यस्मात्मामवमन्यते ।
योनिलिङ्ग स्वरूप वै तस्मात्तस्य भविष्यति ॥

तुमने स्त्री के संग मत्त रहकर मेरा अपमान किया है, इस लिये तुम्हारा स्वरूप योनिलिङ्ग हो जाय।

भविष्यपुराण प्रति० खं० ४ अ० १७ मे इस सम्बन्ध में एक दूसरी कथा आती है —

कदाचिद्भवानत्रिर्गंगाकूले ऽनुसूयया ॥ ६७
तस्य भावं समालोक्य त्रयो देवा. सनातना. ।
अनुसूयां तस्य पत्नीं समागम्य वचोऽब्रुवन् ॥७०
लिङ्गहस्त. स्वयं रुद्रो विष्णुस्तद्रसवर्द्धनः ।
ब्रह्मा काम ब्रह्मलोप. स्थितस्तस्यावशं गत ॥७१
मोहितास्तत्र ते देवा गृहीत्वा ता वलात्तदा ।
मैथुनाय समुद्योग चक्रुर्मायाविमोहिता. ॥७३
तदा क्रुद्धा सती सा वै तान् शशाप मुनिप्रिया।
महादेवस्य वै लिंग ब्रह्मणोऽस्य महाशिर. ॥७४
चरणो वासुदेवस्य पूजनीया नरै सदा ।
भविष्यन्ति सुरश्रेष्ठा उपहासोऽयमुत्तम ॥७५

कभी भगवान् अत्रि अपनी पत्नी अनसूया सहित गंगा के किनारे रहते थे। ६७। उसके भाव को देखकर तीनों सनातन देव उसकी पत्नी अनसूया को यह बात कहने लगे । ७०। हाथ मे लिङ्ग लिये हुए महादेव ···ब्रह्मा जी कामवश वेद का लोप करते हुए उस अनसूया के वश मे होकर स्थित

होगये । ७१ । मोहित होकर वहां वे देवता अनसूया को बलात् पकड़ कर मैथुन करने के लिये यत्न करने लगे । उस मुनि-पत्नी ने क्रोध में आकर इन्हें शाप दिया । ७६ । कि महादेव जी का लिङ्ग, ब्रह्मा का सिर और विष्णु के चरण संसार में पूजे जायेंगे और देवताओ ! तुम्हारा उपहास होगा । ७५ ।

इस प्रमाण से शिर और पैर के साथ लिंग भी शरीर का एक अङ्ग है और उपस्थेन्द्रिय के अतिरिक्त इसका कोई दूसरा अर्थ हो ही नहीं सकता ।

देवी भागवत का एक अन्य प्रमाण भी इसकी पुष्टि करता है :—

शम्भो· पपात भुवि लिङ्गमिदं प्रसिद्धम ।
शापेन तेन च भृगोर्विपिने गतस्य ।
तं ये नरा भुवि भजंति कपालिनं तु ।
तेषां सुखं कथमिहापि परत्र मातः ॥१६

देवी भा० स्कं ५ अ० ६

हे माता ! महादेव के अरण्य मध्यस्थ ऋषियों के आश्रम में गमन करने पर भृगु के शाप से उनका लिङ्ग पृथिवी में गिरा, यह तो प्रसिद्ध ही है । जो कपाल को धारण करता है, ऐसे शिव को जो लोग भजते हैं, उनको किस प्रकार सुख होगा ?

उपरोक्त सभी उद्धरण यह सिद्ध करने के लिये पर्याप्त हैं कि देश में जिस शिव लिङ्ग की पूजा होती है, वह शिव तथा पार्वती की उपस्थेन्द्रिय के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है । दक्षिण भारत, विहार, बंगाल तथा आसाम के कुछ मन्दिरों में प्रतिष्ठित शिवलिङ्ग तथा शिव पार्वती की मूर्तियाँ जिनके चित्र गोरखपुर से निकलने वाले 'कल्याण' के 'शिवाङ्क' में भी प्रकाशित हुए हैं, और जिनको हमने भी इस पुस्तक में दिया है, हमारे प्रतिपादित

विषय की पुष्टि में अकाट्य प्रमाण हैं। यह मूर्तियाँ इस विवाद को सदा के लिये समाप्त कर देती हैं कि यह शिवलिङ्ग, शिव-पार्वती उपस्थेन्द्रिय के सिवाय और कुछ नहीं है। और यह घृणित तथा अश्लील प्रकार की मूर्तिपूजा विधि वाममार्ग के भैरवी चक्र का अवशिष्ट मात्र है। जहा एक पुरुष को शिव अथवा भैरव तथा एक स्त्री को देवी वा भैरवी बताकर उनकी उपस्थेन्द्रिय की पूजा की जाती है। आज देश से तंत्र ग्रन्थों का वाममार्ग लोप होगया है, किन्तु एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक शिवलिंग पूजा द्वारा हिन्दू समाज आज भी उसे न केवल जीवित रख रहा है. अपितु अनेक प्रकार से इसका औचित्य सिद्ध करने का दुष्प्रयास भी रहता है। आज भी सोमनाथ के मन्दिर का जीर्णोद्धार करके शिवलिंग स्थापित किया जा रहा है, जिसके लिये देश के बडे-बड़े नेताओ द्वारा ३५ लाख रुपये की अपार धन राशि संग्रह की जा चुकी है और न जाने कितनी और की जायगी। दु.ख है कि हमारे नेताओं का ध्यान नालिंदा आदि प्राचीन विश्वविद्यालयों के पुनरुद्धार की ओर न जाकर संसार के उपहास का कारण बनने वाली इस शिवलिंग-स्थापना की ओर गया, जिसके लिये देश का लाखों रुपया पानी की भांति बहाया जा रहा है। इसे इस अभागी आर्य जाति का दुर्भाग्य ही कह सकते हैं। क्या किसी जाति के नैतिक पतन की इससे अधिक दु.खपूर्ण अवस्था हो सकती है ?

पौराणिक काल पर हमारा यह अध्याय बहुत विस्तृत हो गया है। मूर्तिपूजा का जन्म तथा उत्थान इसी काल मे हुआ अतः यह विस्तार स्वाभाविक ही था। हमने जो प्रमाण पुराणो से दिये हैं, वह न केवल कल्पित पौराणिक देवों का चरित्र चित्रण ही करते हैं अपितु आर्यजाति की उस समय की साम्प्रदायिक दुरवस्था तथा सामाजिक पतन पर भी विशेष प्रकाश

डालते हैं। उनसे हमारे इस विचार की पूर्णतः पुष्टि होती है कि मूर्तिपूजा विभिन्न सम्प्रदायों की भक्ति-भावना के स्थान पर केवल उनकी व्यवसायिक बुद्धि की ही विशेष परिचायक है। उनके मंदिर और मूर्तियां, तीर्थस्थान और उनके द्वारा जीवन निर्वाह करने वाले लाखों पंडे, पुजारी, साधु-महन्त इस समस्त व्यावसायिक मशीन के कल पुर्जे हैं।

जिस आर्य जाति ने वेद, शास्त्र, स्मृति जैसे उच्च कोटि के धार्मिक साहित्य को जन्म दिया हो, जहाँ से समस्त संसार ने धर्म एव नीति का प्रथम पाठ पढ़ा हो, उस जाति का पुराणों के मिथ्या आचार विचारों मे फंसकर एकेश्वरवाद तथा अष्टांग योग की उच्च शिक्षा के होते हुए अवतारवाद तथा मूर्तिपूजा को अपनाना वास्तव में एक आश्चर्य की बात है। वर्तमान हिन्दू समाज का ईश्वर, उसकी पूजा विधि, तीर्थस्थान. पर्व, जातिभेद, संस्कार, रीति-नीति सब ही पर इस पौराणिक युग की गहरी छाप है। सत्य तो यह है कि इसके अध पतन का समस्त इतिहास इसी पौराणिक शिक्षा का दुष्परिणाम है।

इस शिक्षा के परिणाम स्वरूप हमने क्या क्या यातनायें सहीं, कैसे कष्ट उठाये, कितने अपमानों को सहन किया, इसका दु:खद इतिहास पाठक आगामी अध्यायों में पढ़ेंगे। यह सब होते हुए भी, यह अभागी जाति आज भी उसी शिक्षा से चिपटी हुई है अज्ञान और स्वार्थ इसके परित्याग में आज भी बाधक हैं।

—०—

मूर्तिपूजा और मुस्लिमकाल (१)

सातवीं शताब्दि के मध्य में अरब और उसके निकटवर्ती प्रदेश इस्लाम के प्रभाव में आ चुके थे। भारतवर्ष का अरब, ईरान तुर्किस्तान तथा मिश्र आदि देशों से अति प्राचीन काल से न केवल व्यापारिक किन्तु धार्मिक तथा सास्कृतिक सम्बन्ध रहा है। अत. अरब आदि देशों के निवासियों का यहाँ सदा यातायात बना रहा। यहाँ के निवासी भी इन देशों मे जाते रहे और अपने धार्मिक तथा सास्कृतिक विचारों से उन्हे प्रभावित करते रहे। फलस्वरूप जिस समय यहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार था, यह देश भी बौद्ध धर्म में दीक्षित हो गये। अरबी भाषा का 'बुद' तथा फारसी का 'बुत' शब्द जिसके अर्थ मूर्ति के हैं, 'बुद्ध' का ही रूपान्तर है। अरबी ग्रन्थों में बौद्धो के लिये 'समीना' 'समीनीन', 'शामनान' आदि अनेकों शब्दों का प्रयोग हुआ है तथा 'बोधि-सत्व' को 'बोज़ासफ़' लिखा है।

इस्लाम के प्रचार के पश्चात् भी बौद्ध धर्म के चिन्ह अरब प्रदेशों मे विद्यमान रहे, इस की अनेक साक्षियाँ मिलती हैं। आठवीं शती के प्रारम्भिक काल तक बलख मे इनका एक अत्यन्त प्रसिद्ध 'विहार' जिसे अरब ऐतिहासिकों ने 'नौ बहार' लिखा है 'नव-विहार' का ही अपभ्रंश है विद्यमान था, जिसके वैभव की इन्होंने बड़ी विशद व्याख्या की है। इसी के 'प्रमुख' भिक्षु, जिसे इन्होंने 'बरमक' लिखा है, के वंशज आगे

चल कर मुसलमान होगये और अरब के खलीफा हारूंरशीद आदि के प्रधान मन्त्री बनते रहे।

भारत वर्ष में बौद्ध-धर्म के ह्रास और पौराणिक-धर्म के उत्थान का इन देशों पर भी प्रभाव पड़ा और अरब मे भी शैव तथा शाक्त धर्म फैल गया। सातवीं शती मे चीन यात्री ह्वैनसांग ने अपनी यात्रा मे भारतवर्ष मे शिव की पूजा बड़ी शीघ्रता से चढ़ती हुई देखी और अयोध्या के निकट दुर्गा की मूर्ति के सन्मुख नरबलि की जाती देखी। उसका कहना है कि बुद्ध की मूर्तियों के स्थान पर शिव मूर्तिया स्थापित हो रही थीं और बौद्धों को अनेक प्रकार की यंत्रणायें देकर निकाला जा रहा था। नर मुण्डों की माला पहिने कापालिकों का भी उसने उल्लेख किया है। उसने ईरान, अफगानिस्तान और मध्य एशिया तक में बौद्धों और शैवों को बराबर पाया था। साराश यह है कि जैसे जैसे हमारे देश में धार्मिक परिवर्तन होते गये, इसके प्रभाव से अरब आदि देश भी अछूते न रहे। अरब में जिस स्थान पर आज मुसलमानों का काबा है, वह एक शिव मन्दिर का ही अवशेष है और वहाँ 'संगेअसवद' जिसे मुसलमान यात्री आज भी सम्मानपूर्वक चूमते है, उस मन्दिर की शिवलिङ्ग मूर्ति ही है, जिसे मुहम्मद साहब ने भी किन्हीं कारणों से सुरक्षित रखना ही उचित समझा।

इन देशों के मुसलमान होजाने पर भारतवर्ष भी उनके प्रभाव से न बच सका। एक ओर तो यह देश, 'एक ईश्वर', एक धर्म और एक धार्मिक पुस्तक—अल्लाह, इस्लाम और कुरान के नाम पर संगठित हो रहे थे, दूसरी ओर हमारा देश बहुदेवता-वाद, मूर्तिपूजा, विभिन्न सम्प्रदाय और अनेकानेक छोटे छोटे राज्यों में विभाजित होकर अपने प्राचीन वैभव को भूल

में मिला रहा था। फिर भला उसमें ऐसी शक्ति कहाँ थी कि वह इन देशों में बढ़ती हुई इस्लाम की आँधी से टक्कर लेता? जिस समय मुसलमानों का पहिला आक्रमण इस देश पर हुआ, अरब के खलीफा की ओर से एक व्यक्ति 'हज्जाज्'—ईराक, ईरान मकरान तथा बिलोचिस्तान का प्रबन्धक था। इस आक्रमण के दो कारण बताये जाते हैं। प्रथम यह कि अरब के एक जहाज को कच्छ के लुटेरों ने लूट लिया था। हज्जाज ने जब सिंध के राजा दाहिर से इसका हरजाना माँगा, तो उसने यह उत्तर दिया कि यह स्थान उसकी सीमा से बाहिर है, अत. यह माँग अनुचित है। दूसरा यह कि हज्जाज के आधीन देशों के कुछ विद्रोही दाहिर की शरण में रहने लगे थे। हज्जाज ने इन्हें माँगा परन्तु दाहिर इन्हें देने को उद्यत न हुआ।

फलस्वरूप सन् ७१२ ई० में हज्जाज ने मुहम्मद बिन कासिम को सिंध पर आक्रमण करने के लिए भेजा। मुहम्मद बिन कासिम की आयु इस समय केवल बीस वर्ष की थी। यह ईरान, बिलोचिस्तान होता हुआ ६००० सैनिकों सहित सिंध पर चढ़ आया। जिन लोगों को विद्रोही बताकर हज्जाज ने दाहिर से माँगा था उनके सरदार ने दाहिर के सेनापतियों को तथा नारायण कोट के क़िलेदार को पहिले ही लालच देकर अपने पक्ष में कर लिया था। समय पर यह शरणागत मुसलमान राजा के सेनापतियों सहित राजा के विपरीत होगये। राजा ने तीस हजार सैनिकों सहित कासिम का सामना किया। आठ दिन तक घोर युद्ध हुआ। कासिम भागने को ही था कि एक ब्राह्मण उससे जा मिला और उसे बताया कि यदि मन्दिर का झंडा गिरा दिया जाय तो हिन्दू सेना भाग जायगी, क्योंकि उनके विश्वासानुसार झण्डा गिरने पर उनकी विजय असम्भव है। झण्डे को किसी प्रकार गिरा दिया गया। झण्डा गिरते ही समस्त सेना भागने

लगी। राजा दाहिर घायल होकर गिर गया। उसका शिर काटकर एक भाले पर लगाकर दिखाया गया, जिसे देखकर समस्त सेना भाग खड़ी हुई। मन्दिर विध्वंस कर दिया गया। उसी ब्राह्मण ने कुछ दक्षिणा प्राप्त करने के लालच में एक गुप्त खजाने का भी पता दिया, जिसमें ४० देगें सोने की थीं, जिनमें १७२०० मन सोना भरा था। इसके अतिरिक्त ६००० ठोस मूर्तियाँ सोने की थीं, जिनमें सबसे बड़ी मूर्ति का तौल ३०मन था। हीरा,पन्ना,मोती, लाल और माणिक्य इतने थे, जिन्हे कई ऊँटों पर लादा गया। जिस ब्राह्मण और जिन सेनापतियों ने राजा दाहिर से विद्रोह किया था, उन्हें कासिम ने कत्ल करा दिया। तत्पश्चात् उसने असंख्य मन्दिरों और मूर्तियों का विध्वंस किया, नगरों और ग्रामों को लूटा, हजारों स्त्री पुरुषों को कत्ल कराया। प्रत्येक ग्राम के द्वार पर जाकर वह वहाँ के निवासियों को मुसलमान बनने और धन देने का आदेश देता, देर होने पर कत्ल और लूट करा देता था।

सिंध का सबसे पहिला इस्लामी इतिहास जो 'चचनामा' के नाम से प्रसिद्ध है, कासिम के आक्रमण की इस घटना का एक दूसरे प्रकार से वर्णन करता है। इसके मतानुसार उस समय सिंध में पौराणिक-सम्प्रदायवादियों और बौद्धों के बीच गहरा संघर्ष था। दाहिर का पिता राजा चच, जिसके नाम पर यह इतिहास लिखा गया है, पौराणिक था और उसने बहुत से बौद्ध राजाओं को या तो नष्ट कर दिया था या अपने आधीन कर लिया था। इसके पश्चात् इसका छोटा भाई राजा बना, किंतु वह बौद्ध था, अत जिन्होंने चच के समय में बौद्धधर्म को तिलाञ्जलि दे दी थी, उन्हें पुन बौद्ध होने के लिए इसने विवश किया। पौराणिक सम्प्रदायों ने उसे गद्दी से उतार दिया और उसके स्थान पर दाहिर को राजा बनाया। इसी इतिहासकार का

कहना है कि कासिम का स्थान-स्थान पर बौद्धों ने स्वागत किया और उसे प्रत्येक प्रकार की सुविधा पहुँचाई। सिंध के एक व्यक्ति 'काका' के सम्बन्ध मे, जिसे इसने एक सुप्रसिद्ध बुद्धिमान् और नीतिज्ञ बताया है, लिखा है कि जब कुछ प्रतिष्ठित जाट सामन्त इसके पास गए और पूछा कि यदि उसका परामर्श हो तो कासिम की सेना पर रात को छापा मारा जाय? उसने उत्तर दिया कि यदि तुम ऐसा करते हो तो करो, किंतु सुनो! हमारे पण्डितों और योगियों ने ज्योतिष द्वारा यह भविष्यवाणी की है कि हमारे देश को एक दिन मुसलमान विजय कर लेंगे। लोग इन की बात नहीं मानते और हानि उठाते हैं। तुम जानते हो कि मैं सदा अपने निश्चय पर अटल रहने वाला हूँ। बौद्धों की पुस्तकों में भी यही भविष्यवाणी की गई है और मेरा भी यही निश्चय है कि वास्तव में ऐसा ही होने वाला है। तत्पश्चात् यह 'काका' मुहम्मद बिन कासिम के पास चला गया और जाट सामंतों के विचार से उसे सचेत कर दिया। उसने अपनी धार्मिक पुस्तकों की भविष्यवाणी का भी उससे वर्णन किया। कासिम ने उसका स्वागत किया और उसे अनेक बहुमूल्य पारितोषक भेंट किए। इसी प्रकार राजा दाहिर के बहुत से विरोधी सेना-नायकों ने भी जाकर उसकी आधीनता स्वीकार कर ली। सम्भवत. यह काका वही देशद्रोही ब्राह्मण अथवा पुजारी था, जिसका अन्य इतिहासकारों ने कासिम से जा मिलने का उल्लेख किया है। यह है मुसलमानों द्वारा भारत को पराधीन करने वाले प्रथम युद्ध का संक्षिप्त विवरण, जिसके फलस्वरूप लगभग चौदह सौ वर्ष व्यतीत होने पर हमारे बंधन अब कहीं ढीले हुए हैं और वह भी मुसलमानों द्वारा इस देश को खण्ड-खण्ड करने के दु:खद परिणाम के पश्चात्।

उपर्युक्त उद्धरणों से सिद्ध है कि इस युद्ध मे हमारी पराजय के कारण स्पष्ट रूप से दो हैं और वह राजनैतिक न होकर नितान्त धार्मिक और मानसिक हैं। पहिला हिन्दुओं का यह विश्वास कि मंदिर की मूर्ति एक चैतन्य दैवी शक्ति है और हमारी जय और पराजय उसकी इच्छा पर निर्भर है। यदि वह अप्रसन्न है तो हमारा सब प्रयत्न निष्फल है। झंडे का गिर जाना उसकी अप्रसन्नता का सूचक है। दूसरा अपने साहस और पौरुष पर विश्वास न रखकर ज्योतिषियों के हाथ अपने भाग्य को सौंप देना। जिन भविष्यवाणियों का 'काका' ने, जो स्वयं भी ज्योतिषी प्रतीत होता है, उल्लेख किया है वह क्या हैं? और कहाँ की हैं? इसका तो कुछ पता नहीं, किंतु यह निर्विवाद है कि इसमें भी विदेशी आक्रमणकारियों का अवश्य ही हाथ है, जो उस समय के हिन्दुओं के अन्धविश्वासों से लाभ उठाने का पूरा प्रयत्न करते थे। 'काका' जैसे देशद्रोहियों का, जहाँ इतनी साम्प्रदायिक विभिन्नता हो, मिल जाना तो कोई कठिन बात है ही नहीं। इस प्रकार का अंधविश्वास, आत्म-संशय तथा भीरुता मूर्तिपूजा का स्वाभाविक फल है। जो जाति जड़मूर्ति के भय से थर-थर काँपे, वह एक ईश्वर-विश्वासी निर्भीक, जाति के सन्मुख कब तक ठहर सकती थी। हिंदू उस समय के विदेशी आक्रमणकारियों से शारीरिक बल में कम हों, यह बात भी नहीं थी। एक प्रसिद्ध इतिहासकार बदाऊनी ने लिखा है :—

"हिंदुओं के बराबर प्रतापशाली पठान और मुगलों में एक भी जाति विद्यमान नहीं है।" परन्तु फिर भी अनेक धार्मिक और मानसिक रोगों ने जिनका हमने ऊपर उल्लेख किया है, इस जाति को जर्जरित कर रक्खा था। क्या आज भी हम उनसे मुक्त हो सके हैं? एक अंग्रेज लेखक का यह कथन कि

'मुहम्मद बिन कासिम के समय से आज तक हिंदू जाति ने न कुछ सीखा है और न कुछ भुलाया है' सर्वांश में सत्य है।

एक स्थान पर प्रसिद्ध अरबयात्री अलबरूनी ने लिखा है—"मुहम्मद बिनकासिम ने जब मुल्तान को विजय किया तो उसकी भारी जनसंख्या और समृद्धिशाली होने का कारण वहाँ के प्रसिद्ध देव मन्दिर को पाया। अत. उसने उसे वैसा ही छोड़ दिया। किंतु मूर्ति के गले में एक गाय की हड्डी बॉध दी जिससे यह प्रत्यक्ष हो जाय कि वह इस मूर्ति को किसी श्रद्धा अथवा विश्वास के कारण अछूता नहीं छोड रहा है।" एक दूसरा मुसलमान इतिहास-कार इसी मन्दिर के सम्बन्ध मे लिखता है कि—"इस प्रकार मुल्तान का यह महान् देव-मन्दिर नगर के विजय होने पर भी सुरक्षित रहा। अरबों के तीनसौ वर्ष के राज्य काल मे भी वह जैसा का तैसा बना रहा। अरब वासियों ने इस मन्दिर से आर्थिक और राजनैतिक दोनों लाभ उठाये। राजनैतिक यह कि जब कोई हिंदू राजा मुल्तान पर आक्रमण करने की तैयारी करता तो अरब शासक उसे यह धमकी देकर भयभीत कर देता कि यदि उसने यहाँ आक्रमण किया तो इस मन्दिर को भस्मीभूत कर दिया जायगा। यह सुन कर अंध विश्वासी, धर्मभीरु राजा रुक जाता। आर्थिक लाभ यह कि समस्त भारत से लोग यहाँ की यात्रा को आते और चढ़ावा चढाते थे, जो अरब शासक के राजकोप मे ले लिया जाता था।" अरब यात्रियों का कहना है कि इस मन्दिर मे अतुल चॉदी सोना था। दो दो सौ अशर्फियों का तो केवल अगर ही यहाँ जलाने को आता था। देवमूर्ति जो सूर्य देवता की थी, काष्ठ की बनी हुई थी, जिसके दोनों नेत्र बहुमूल्य रत्नों के थे और शिर पर सोने का मुकुट था।"

इस प्रकार मुसलमानों ने हमारे अंधविश्वास और मूर्खता का पूरा २ लाभ उठाया। हमारी देवमूर्तियाँ एक ओर अपने हिंदू भक्तों से अपार धन हरण करने और दूसरी ओर उसे अपने विध्वंसकों के चरणों में अर्पित करने का साधन बनी हुई थीं। उनके भक्त पुजारी अपनी स्वार्थसिद्धि में रत थे। वह अपने व्यवसाय को चलता हुआ देखना चाहते थे। जाति का धन कहाँ जाता है, इसकी उन्हे चिंता न थी। वह उसमे अपना भाग सुरक्षित रखना चाहते थे और वह मुसलमान शासकों से उन्हें मिल ही जाता था। अनेक मुसलमान यात्रियों का कहना है कि मुलतान के निकटवर्ती हिंदू राजा बड़ी सरलता से इस अरब शासन का अन्त करके धूल में मिला सकते थे, परन्तु मूर्ति-ध्वंस के भय ने उन्हे साहसहीन बना रक्खा था। मूर्तिपूजा हमारी पराधीनता में कहाँ तक सहायक हुई, यह संसार के इतिहास में कोई नवीन बात नहीं है। अनेक देशों को इस अन्ध विश्वास के लिये घोर प्रायश्चित करने पड़े हैं। यह अभागी आर्यजाति इतनी कठोर यातनाएं सहने पर भी, आज तक इस परम्परागत अन्धविश्वास से मुक्त नहीं हुई। सिंध का वह देवी का मन्दिर जो भारत की पराधीनता का सर्व प्रथम प्रतीक है, खंडहर रूप मे आज भी उपस्थित है। प्रति वर्ष यहां एक बड़ा मेला लगता है, जहाँ हजारों हिंदू अब भी उस देवी की पूजा करते है, परन्तु राजा दाहिर का नाम जिसने स्वदेश रक्षार्थ अपने प्राणार्पण कर दिये, आज केवल अतीत की वस्तु बन चुका है।

जिस समय का हम यहाँ उल्लेख कर रहे हैं, वह इस देश के घोर अधःपतन का समय था। पौराणिक सम्प्रदायवाद अपने पूर्ण उत्कर्ष पर था, और हिंदू मन्दिर अपार धन-राशि के केन्द्र बने हुए थे। एक अरब लेखक इब्न नदीम ने एक

अन्य लेखक के आधार पर गुजरात के एक मन्दिर के अपार वैभव का उल्लेख करते हुए लिखा है—"गुजरात के राजा वल्लभराय की राजधानी महानगर के देव मंदिर में सोने, चाँदी, लोहे, पीतल, हाथीदाँत औा हर प्रकार के बहुमूल्य पाषाण और मणियो की बीस हजार मूर्तियाँ हैं। उसकी एक मूर्ति बारह हाथ ऊची स्वर्ण की है जो स्वर्ण के ही सिंहासन पर विराजमान है। यह सिंहासन एक गोलाकार ऊँचे स्वर्ण के भवन में स्थित है। यह भवन स्वच्छ मोतियों, लाल, हरे, पीले और नीले रग के जवाहरात से सुसज्जित है। वर्ष मे एक बार इसका मेला होता है। राजा स्वय वहाँ पैदल आता जाता है। इस मूर्ति के सन्मुख वर्ष में एक दिन वलि दी जाती है और मनुष्य तक उस पर अपनी वलि चढाते है।" अत विदेशी मुसलमानों द्वारा इन मन्दिरों पर आक्रमण का कारण न केवल मूर्ति-ध्वंस द्वारा स्वर्ग प्राप्ति की लालसा ही थी, अपितु इन मन्दिरों का अपार वैभव भी उन्हे यहाँ खींच लाने का एक मुख्य कारण था। जिस छल कपट से पौराणिक साम्प्रदायिकों ने इसको संग्रह किया था, उसी भाँति वह उनसे अपहरण कर लिया गया। ईश्वर से विमुख होने के फल स्वरूप जो शताब्दियों तक मार खाई और अपमान सहन किये, वे पृथक् रहे।

मुहम्मद बिन कासिम के भारत आक्रमण के लगभग तीनसौ वर्ष पीछे गजनी के महमूद ने इसी लूट के लालच मे इस देश पर धावा बोल दिया! इसने लगातार तीस वर्ष तक भारत पर सत्रह आक्रमण किये और समस्त पश्चिमोत्तर भारत को भस्मीभूत कर दिया। इसने नगरकोट के मन्दिर को विध्वंस करके इसमें ७०० मन सोने-चाँदी के बर्तन, ७४० मन सोना, २००० मन चाँदी और २० मन हीरे, मोती,

जवाहरात लूटे। थानेश्वर के आक्रमण मे ? लाख हिन्दुओं को बन्दी बनाकर गजनी लेगया। 'फरिश्ता' लिखता है कि उस समय गजनी हिन्दुओं की सी नगरी प्रतीत होती थी। मदुरा की लूट मे उसे ६ ठोस सोने की मूर्तियां मिलीं जिनके शरीर पर ११ बहुमूल्य रत्न थे। वहाँ से वह इतने हिन्दू गुलाम बनाकर लेगया था कि गजनी में उसने एक एक गुलाम को २॥) रुपये को बेचना चाहा परन्तु मोल लेने वाले न मिले। मदुरा को देखकर महमूद ने स्वयं कहा था कि हजारों महल विश्वासी के विश्वास की भाँति दृढ़ भाव से खड़े हैं, जो संगमरमर के बने हैं। यहां असंख्य हिन्दू मन्दिर हैं। अनन्त धन खर्च किये बिना नगरी इतनी सुन्दर नहीं बन सकती। दो सौ वर्ष के यत्न और परिश्रम बिना ऐसा नगर निर्माण असम्भव है।

इसके पश्चात् इसने गुजरात के सुप्रसिद्ध सोमनाथ के मन्दिर पर आक्रमण किया। इस विशाल मन्दिर में अगणित बहुमूल्य रत्न लगे हुए थे। ४० मन भारी सोने की जंजीर में एक भारी घन्टा लटक रहा था। उसमें ५ गज ऊंची शिव-मूर्ति अधर लटक रही थी, जिसे उसने अपने हाथों से तोड़कर असंख्य रत्नों का ढेर लूट लिया। उस मूर्ति को गजनी ले गया। उसके टुकड़े-टुकड़े करके एक टुकड़ा मस्जिद की सीढ़ियों में और एक अपने महल की सीढियों में लगा दिया। उसने उस मन्दिर के स्थान पर एक मस्जिद निर्माण करादी, जो अब तक खड़ी है।

इससे पूर्व कदाचित् ही इस देश ने कभी इतने दुर्दिन देखे हों। सोमनाथ की जिस शिव मूर्ति को महमूद ने अपने हाथों एक गदा से विध्वंस किया था वह बिना किसी दृष्ट आधार के

मन्दिर में अधर स्थित थी। शैव लोगों मे मूर्ति के इस चमत्कार को बड़े कौतूहल की दृष्टि से देखा जाता था और भोली हिन्दू जाति के अन्धविश्वास और तत्कालीन आर्थिक वैभव से मन्दिर के पुजारी और उनके संरक्षक क्षत्रिय राजा पूर्ण लाभ उठाते थे। यह मूर्ति लोहे की बनी हुई थी। मन्दिर में ऊपर नीचे दोनों ओर चुम्बक पत्थर लगा हुआ था जिसके आकर्षण से यह मूर्ति अधर स्थित थी। महमूद गजनवी ने जब इसे तोड़ना चाहा तो पुजारियों ने उसे न तोड़ने की बड़ी अनुनय-विनय की और बदले मे बहुत धन देने को भी कहा, किन्तु उसने उत्तर दिया कि मैं 'मूर्ति-भञ्जक' हूँ 'मूर्ति-विक्रेता' नहीं।

पुजारियों की इस प्रार्थना के दो कारण प्रतीत होते हैं। पहिला यह कि उस 'शिवलिङ्ग' के भीतर बहुमूल्य रत्न भरे हुए थे। दूसरा यह कि इससे उनका समस्त चमत्कार जिसके आधार पर उनका यह व्यवसाय चल रहा था, धूल में मिल जाता था

इन शिव भक्तों की इस शिवलिंग ने तनिक भी सहायता नहीं की। और एक अविश्वासी, बर्बर द्वारा क्षणभर में उसके खंड-खंड होगये। इससे तीन सौ वर्ष पूर्व मुहम्मद बिन कासिम के आक्रमण के समय 'देवी' भी अपने उपासकों की सहायक न हो सकी और न अपनी ही रक्षा कर सकी। पुनः तीन सौ वर्ष पश्चात् भारत प्रसिद्ध शिव मन्दिर को विध्वंस किया गया और शिवलिंग के खण्ड-खण्ड करके उस स्थान पर मस्जिद बनादी गई परन्तु इस बार भी शिव की समाधि भंग नहीं हुई। उपर्युक्त दोनों ही ऐतिहासिक घटनाएं हैं, हमारी क्लिष्ट कल्पनायें नहीं। सोमनाथ, काशी, अयोध्या, तथा मथुरा आदि तीर्थ-स्थानों की वक्षस्थली पर देव मन्दिरों को विध्वंस करके उनकी जगह खड़ी हुई मस्जिदें आज भी मूर्तिपूजा की निःसारता तथा

उसे इस देश की पराधीनता का मुख्य तथा प्रबल कारण घोषित कर रही हैं। तत्कालीन भारत की राजनैतिक तथा सामाजिक अवस्था कितनी दयनीय थी, इसका वर्णन अरब का प्रसिद्ध यात्री अलबरूनी जो महमूद के आक्रमण के समय भारत में ही उपस्थित था, निम्न शब्दों में करता है :—

"भारत बहुत छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त है। सब राज्य स्वतंत्र हैं और परस्पर युद्ध में प्रवृत्त रहते हैं। ब्राह्मण अपने अधिकारों की रक्षा के लिये इतने व्याकुल हैं और जातिभेद का ऐसा द्वेषभाव फैल रहा है कि वैश्यों और शूद्रों को वेद-पाठ करते देखकर, ब्राह्मण उन पर तलवार लेकर टूट पड़ते हैं। और उन्हें राजकचहरी में उपस्थित करते हैं, जहाँ उनकी जिह्वा काट ली जाती है। ब्राह्मण सब प्रकार के राज्य-कर से मुक्त हैं। हिंदू बालाएं सती हो जाती हैं। हिंदू किसी देश को नहीं जाते, किसी जाति को श्रद्धा की दृष्टि से नहीं देखते। वे अपने को और अपनी जाति को सर्वश्रेष्ट समझते हैं।"

परन्तु अन्त में इन ब्राह्मण और क्षत्रियों को भी अपने इन पापों का फल भोगना पड़ा। वे भी गजनी के बाजारों में दो-दो रुपये को बिके!

महमूद गजनवी के लगभग १५० वर्ष पश्चात् १२ वीं शती में मुहम्मद गौरी ने भारत पर आक्रमण किया। पृथ्वीराज ने पकड़कर उसे परास्त किया और उसे बंदी कर लिया परन्तु कुछ दंड लेकर छोड़ दिया। छः बार उसने आक्रमण किये और हार कर बंदी हुआ और धन लेकर छोड़ दिया गया। पृथ्वीराज और जयचन्द्र के पारस्परिक युद्ध ने मुहम्मद गौरी को फिर एक बार भारत पर आक्रमण करने का अवसर दिया। जयचन्द्र ने पृथ्वीराज से परास्त होकर मुहम्मद गौरी को भारत पर आक्रमण

करने का निमंत्रण भेजा और पृथ्वीराज के विरुद्ध सहायता देने का वचन दिया। इस बार भी पृथ्वीराज ने डट कर सामना किया। मुहम्मद गौरी की सेना भागने ही को थी कि जयचन्द्र की सेना ने पीछे से आक्रमण कर दिया। पृथ्वीराज पकडे गये और मुहम्मद गौरी उन्हें बदी बनाकर अपने साथ ले गया। इस प्रकार हिंदू-स्वाधीनता का दीप सदा के लिये बुझ गया।

इसके दूसरे ही वर्ष मुहम्मद गौरी ने कन्नौज पर आक्रमण कर दिया। जयचन्द्र की सेना में उस समय पचास हजार मुसलमान सवार थे। वह युद्ध के समय जयचन्द्र की ही सेना पर उलट पडे। राठौरों की सेना छिन्न-भिन्न हो गई और जयचन्द्र, कुतुबुद्दीन ऐबक के तीर से घायल होकर घोड़े सहित गंगा में गिर कर डूब गया। इसने कन्नौज मे १००० मदिर विध्वंस किये और ४०० ऊंटों पर लूटा हुआ सोना और चाँदी लादकर अफगानिस्तान ले गया। इस प्रकार जयचन्द्र को भी अपने देशद्रोह का प्रायश्चित दूसरे ही वर्ष करना पड़ा।

जिस समय उत्तर-पश्चिमी भारत विदेशियों द्वारा पादाक्रान्त हो रहा था, उस समय दक्षिण भारत की अवस्था भी कुछ अच्छी न थी। महमूद गजनवी ने दक्षिण में, मंदिरों की लूट के लालच मे मदुरा पर आक्रमण अवश्य किया, परन्तु इसका उस पर कोई स्थायी प्रभाव नहीं पडा। वह एक आँधी की भाँति गया और उसी प्रकार लौट आया। जैसा कि इससे पूर्व लिख चुके हैं, भारत का अरब से बहुत पहिले से व्यापारिक सम्बन्ध था। दक्षिण भारत तीन ओर से समुद्र से घिरा हुआ है, अत. वहा जहाजों द्वारा अरब व्यापारियो का आना-जाना निरन्तर बना रहता था। अरब के इस्लाम धर्म ग्रहण करने पर परिस्थिति कुछ भिन्न हो गई। पहिले वहाँ का निवासी केवल एक

व्यापारी था किंतु अब उसमें अपने नवीन धर्म के प्रचार की धुन भी थी। अत. उन्होंने अब व्यापार के साथ धीरे-धीरे अपना धर्म प्रचार भी प्रारम्भ कर दिया। यह वह समय था जब पौराणिक सम्प्रदायवाद ने हिंदू जाति को खोखला कर दिया था। वह अपना आत्म विश्वास, शौर्य और साहस सब कुछ खो बैठी थी। निम्न जाति के लोगों के साथ ब्राह्मण-क्षत्रियों का व्यवहार अमानुषिक था। पौराणिक भूलभुलैयों में यहाँ का प्राचीन सरल तथा सुबोध धर्म अपना आकर्षण खो चुका था। मुसलमान आक्रमणकारियों द्वारा अपनी उपास्यदेव मूर्तियों तथा मंदिरों की दुर्दशा देख कर हिन्दुओं का धार्मिक विश्वास हिल चुका था। अत. इस नवीन धर्म को पैर जमाने के लिये वहाँ की भूमि कुछ प्रतिकूल न थी।

हिन्दू-राज्यशक्ति पारस्परिक गृहयुद्ध से विनष्ट हो रही थी। मुसलमानों के बढ़ते हुए प्रताप को देखकर प्रत्येक राजा उनकी सहायता से लाभ उठाने के लिये उत्सुक था। मुसलमानों को ऊंचे-ऊचे राज्यपद मिलने लगे, जिनसे लाभ उठाकर उन्होंने स्थान-स्थान पर अपनी मस्जिदें बनानी प्रारम्भ कर दीं। उनको राज्य की हर प्रकार की सुविधाएं सहज में प्राप्त होगईं और मुसलमानों ने अपनी बस्तियां बसानी आरम्भ कर दीं। राज्य की ओर से उन्हें अपने पृथक् न्यायालय तक स्थापित करने का अधिकार प्राप्त हो गया और उनके लिये पृथक् काजी नियत कर दिये गए। इन हिन्दू राजाओं ने इन विदेशियों के आतिथ्य सत्कार में कोई कसर न उठा रखी। हिन्दू जाति वैसे ही अपने आतिथ्य के लिये सदा से प्रसिद्ध है। फिर इस समय तो उनकी राजनीति और धर्मनीति दोनों का ही दिवाला निकल चुका था। अपने और पराये तक का भेद जानने की शक्ति

विनष्ट हो चुकी थी। मुसलमानों ने इस सुअवसर से पूरा पूरा लाभ उठाया और धीरेधीरे अपना प्रचार कार्य प्रारम्भ कर दिया। पौराणिक-धर्म उसके समक्ष निश्चय ही निर्बल और आकर्षणहीन था, अतः वह उससे टक्कर लेने में सर्वथा असमर्थ सिद्ध हुआ।

प्राचीन वैदिक-धर्म की विश्व को आर्य बनाने की विशुद्ध भावना नष्ट हो चुकी थी। पौराणिक-धर्म में विधर्मियों को अपने मे मिलाने का विधान नहीं है और यदि हो भी तो जन्म-गत जाति-पाति के गोरखधधं मे इन नव आगन्तुकों के लिये हिन्दू समाज मे कोई स्थान नहीं है। इस्लाम का एकेश्वरवाद जड़ पूजा निषेध, भ्रातृ-प्रेम तथा समानता के भाव निर्विवाद रूप से वैदिक-धर्म के परिज्ञान के अभाव में पौराणिक-धर्म पर विशेषता थी। फलस्वरूप न केवल निम्न श्रेणी के दलित हिंदू ही, अपितु दक्षिण के अनेक राजा तक इस्लाम में दीक्षित हो गये। राजा के धर्म परिवर्तन का स्वभावत प्रजा पर भी प्रभाव पड़ता है, और ऐसा ही हुआ भी। धीरे-धीरे लाखों हिन्दू मुसलमान हो गये। मालाबार कोडगल्लूर का राजा चेरामन पैरुमल जैमोरिन की शकाओं का पौराणिक विद्वान् समाधान न कर सके और वह मुसलमान हो गया। उसका नाम अब्दुर्रहमान रक्खा गया और वह अरब को मक्का की यात्रा पर चला गया। वहाँ से उसने कई प्रचारक मालाबार भेजे जिन्होंने ११ मस्जिदें बनवाईं और इस्लाम का प्रचार किया। राजा वहा से नहीं लौटा और ४ वर्ष पश्चात् मर गया। आज भी जैमोरिन राजगद्दी के अवसर पर अपना शिर मुंडवाता है और मुसलमानी ढङ्ग के वस्त्र पहनता है। एक मोपला मुसलमान उसके शिर पर मुकुट रखता है। राज्याभिषेक के उपरान्त वह जाति-बहिष्कृत समझा जाता है।

इस राजा के प्रभाव से वहाँ इस्लाम का अच्छा प्रचार हुआ। एक अरब यात्री मसूदी ने १० वीं शती में चौल में १० हजार मुसलमानों की बस्ती पाई। इब्न बतूता ने भी खम्मात से मालाबार तक सर्वत्र मुसलमानों की अच्छी जन संख्या देखी और उन्हें समृद्धिशाली पाया। गोआ मुसलमानों के अधिकार में था। हिनोर में भी मुसलमानों का राज्य था और मंगलोर में भी ४ हजार मुसलमानों की बसावट थी। संक्षेपतः दक्षिण भारत के समस्त समुद्री तट पर मुसलमानों की बस्तियां थीं और न केवल मुसलमानों द्वारा किन्तु राजाओं की ओर से बड़ी २ मस्जिदें बनवाई गईं थीं।

नत्थवली ने तेरहवीं शती में मदुरा और त्रिचनापल्ली में बहुत से हिन्दुओं को मुसलमान बनाया। बाबा फखरुद्दीन एक साधु था, पेन्नुकोंडा में रहता था, उसने वहाँ के राजा को मुसलमान बनाया और एक मस्जिद बनवाई। उस समय बीजानगर दक्षिण का एक विशाल राज्य था। राजा की सेना में १०००० (दस हजार) मुसलमान सैनिक थे, जिनका राजा बड़ा आदर करता था। राजा ने एक मस्जिद भी बनवाई थी और कुरान को आदर और सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था।

मुसलमानों ने हिन्दुओं के अन्ध विश्वास और अज्ञान से भी पूरा लाभ उठाया। उन्होंने धर्म प्रचार में छल, कपट और कूटनीति का यथावसर पूरा उपयोग किया। मालद्वीप में इस्लाम कैसे फैला ? इस सम्बन्ध में इब्न बतूता ने लिखा है कि यहाँ के निवासी पहिले सब मूर्तिपूजक थे। यहाँ समुद्र की ओर से प्रति मास एक राक्षस आता था। जब वहाँ के निवासी इसे देखते थे तो एक अविवाहित लड़की को शृंगार

करके उसे देव मन्दिर में छोड़ आते थे जो समुद्र तट पर स्थित था। परन्तु मराको के एक अरब शेख अबुउल्बर्कात बरबरी मगरबी जो अकस्मात् यहाँ आये हुए थे उनकी प्रार्थना और कृपा से द्वीप निवासी उससे मुक्त होगये। इस चमत्कार को देखकर वहा का राजा शनो और उसकी समस्त प्रजा मुसलमान होगई। यह समुद्र की ओर से आने वाला राक्षस कौन था और उसका उक्त शेख ने कैसे दमन किया यह एक विचित्र रहस्य है। सम्भवतः यह या तो कोई दुष्ट व्यक्ति था जो उस समय मूर्तिपूजा आदि प्रचलित अनेकानेक अन्ध विश्वासों से लाभ उठाकर वहाँ की जनता को भयभीत करके इस दुराचारपूर्ण कुकृत्य में प्रवृत्त था जिसे इस शेख ने वश में कर लिया या फिर यह किसी मुसलमान की ही करतूत थी, जिसकी मंत्रणा से शेख ने लाभ उठाया। इसी प्रकार मद्रास के दहपट्टन के राजा कोयल की एक घटना वर्णित है। राजा कोयल का एक पूर्वज मुसलमान होगया था और उसने एक मस्जिद बनवाई थी। उसके मुसलमान होने का वर्णन इब्न-बतूता ने यहा के मुसलमानों से सुना, कि जहाँ मस्जिद है वहाँ एक वृक्ष था जिस पर 'कल्मा' लिखा होता था। जिसे आधा हिन्दू और आधा मुसलमान ले जाते थे। इससे रोगी स्वस्थ हो जाते थे। इसी चमत्कार को देखकर राजा मुसलमान हो गया। बुद्धपट्टन की मस्जिद के एक ऐसे ही चमत्कार का इसने उल्लेख किया है। वहाँ समुद्र तट पर एक मस्जिद थी। उसकी छत तोड़कर किसी ब्राह्मण ने एक लकड़ी अपने घर में लगा ली। फलत. उस ब्राह्मण के घर मे आग लग गई और वह सपरिवार उसमे जलकर मरगया।

जिन मुसलमानों को राजा अपने यहाँ उच्च पदों पर नियुक्त

करते थे वे समय पाकर स्वयं वहाँ के राजा बन बैठते थे। इसके अनेक उदाहरण इतिहास में मिलते हैं। कारोमंडल के राजा सुन्दर पाण्ड्य के मन्त्री तकीउद्दीन का भाई जमालुद्दीन, जो राज्य के लिए प्रति वर्ष दस हजार घोड़े अरब से लाकर विक्रय किया करता था, राजा के मरने पर वहाँ का राजा बन बैठा। जमालुद्दीन के हाथ सात हजार बैलों का बोझ सोना और जवाहारात लगे और तकीउद्दीन उसका सहायक नियुक्त हुआ।

उस समय इस्लाम के प्रचार में एक अन्य उपाय का भी अवलम्बन किया जा रहा था। मुसलमान फकीर हिंदू वेष में मन्दिरों में रहकर वहां की आन्तरिक दशा का अध्ययन करते थे और उसकी सूचना अपने प्रचारकों और मुस्लिम शासकों को देते रहते थे। जो समय पर उनसे पूरा लाभ उठाते थे। इब्न-बतूता का कहना है कि चन्दापुर के निकट एक मन्दिर में उसकी भेंट एक जोगी से हुई जो वास्तव में एक मुसलमान सूफी था और केवल संकेत से बातचीत करता था। फारसी का प्रसिद्ध कवि शेख सादी सोमनाथ के मन्दिर में कुछ समय हिंदू साधु बन कर रह गया था। इसी प्रकार समस्त देश में मुसलमान साधु बड़ी सरलता और शान्ति से पौराणिक धर्म की दुर्बलता से लाभ उठाकर अपने सिद्धान्तों का प्रचार कर रहे थे। ११९७ ई० में शेख मुईनुद्दीन चिश्ती ने अजमेर के मन्दिर के महन्त रामदेव और योगीराज अजयपाल को मुसलमान बनाया। इसी मठ के सूफियों ने आगे चलकर इस्लाम के प्रचार का बड़ा कार्य किया। दक्षिण में सद्रुद्दीन ने खोजा सम्प्रदाय को जन्म दिया जो आज कट्टर मुसलमान हैं।

उत्तर-पश्चिम में भी लाखों हिन्दू जहां तलवार के जोर से मुसलमान बनाये गए वहां कुछ ऐसे भी थे जिन्होंने पौराणिक

मतमतान्तरों और विशेष कर मूर्तिपूजा से असंतुष्ट होकर भी इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया। वलाजरी, एक अरब इतिहासकार, जो नवीं शताब्दि में हुआ है, लिखता है कि कश्मीर, काबुल, और मुल्तान के बीच आसीफान (असीवान) के राजा का एक लाडला पुत्र बहुत बीमार हुआ। राजा ने मन्दिर के पुजारियों को बुलाकर उसकी जीवन रक्षा के लिए देवता से प्रार्थना करने को कहा। पुजारियों ने आकर दूसरे दिन कहा कि प्रार्थना की गई और देवताओं ने उसे जीवन-दान देने की कृपा की है। परन्तु राजा का पुत्र थोड़ी ही देर पीछे मर गया। राजा को बड़ा दु.ख हुआ। उसने उसी समय जाकर मन्दिर विध्वंस करा दिया। पुजारियों के शिर काट लिये गये। राजा ने नगर में जो मुसलमान व्यापारी थे उन्हे बुलाकर उनसे इस्लाम के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में पूछताछ की और मुसलमान होगया।

जहा अनेकानेक हिन्दू, मुसलमान हो रहे थे वहाँ कभी कभी कोई सरल प्रकृति मुसलमान भी मन्दिरों के अद्भुत चमत्कारों को देखकर पुजारियों के चकमे मे आजाता था। एक अरब यात्री जो वैतुल्मुकद्दस का निवासी था दसवीं शताब्दि में सिन्ध के मन्दिरों के वर्णन में कहता है कि "हवरवा" में पत्थर की दो अद्भुत मूर्तियाँ है। वे देखने में सोने, चाँदी की प्रतीत होती हैं। कहते हैं कि यहाँ आकर जो प्रार्थना की जाती है वह स्वीकृत हो जाती है। यहाँ हरे रग का पानी का एक कुण्ड है। यह पानी घावों के लिए बड़ा लाभप्रद है। यहाँ पुजारियों का व्यय देवदासियों द्वारा पूरा होता है। बड़े-बड़े लोग अपनी लड़कियों को लाकर यहाँ चढ़ाते हैं। मैंने यहाँ एक मुसलमान को देखा जो इन दोनों मूर्तियों की पूजा करने लगा था। पीछे वह नेशापुर में जाकर पुन. मुसलमान होगया। यह दोनो मूर्तियाँ जादू की थीं। इनको कोई हाथ मे छू नहीं सकता था"। जिन चम-

त्कारों के आधार पर देश को सहस्रों वर्षों तक लूटा गया, न जाने इन मूर्तियों की दैवी शक्ति उस समय जब मुसलमानों ने उन्हें खण्ड-खण्ड करके मस्जिदों की सीढ़ियों तक में लगाया, कहाँ विलुप्त हो गई ! आज भी वही मूर्तियाँ हर प्रकार के चमत्कारों से शून्य हैं।

मूर्तिपूजा और उसके कुपरिणामों का चित्रण जो कुछ तत्कालीन अरब यात्रियों और विद्वान् लेखकों ने किया है और जो अब भी उपलब्ध है उसे संक्षेप में हम यहाँ उद्धृत करते हैं—

इब्ननदीम ने अनेक प्रकार की मूर्तियों और उनकी आकृतियों का वर्णन किया है। यहाँ उसने काली के चार हाथ, नीला रङ्ग, दाँत निकले हुए, पीठ पर हाथी की खाल जिससे खून की बूंदें टपकती हैं, शिर पर खोपड़ियों का ताज और उन्हीं की गले में माला देखी। सूर्य की मूर्ति का वर्णन करते हुए वह लिखता है कि एक गाड़ी में चार घोड़े जुते हैं, एक पर मूर्ति है। उसके भक्त उसको दण्डवत करते हैं, चारों ओर घूमते हैं, धूप जलाते हैं और बाजा बजाते हैं। मन्दिर से बहुत सी जायदाद लगी है और बहुत से पुजारी हैं जो इस मन्दिर और जायदाद का प्रबन्ध करते हैं। चन्द्रमा की मूर्ति का रथ चार बतों (हंसों) वाला बताया है। मूर्ति के हाथ में एक बहुत बड़ा लाल होता है, जिसे चन्द्रकेतु कहते हैं। शुक्ल पक्ष की चतुर्दशी को इसकी पूजा होती है। गङ्गा के माहात्म्य का भी इसने वर्णन किया है।

दूसरा लेखक मुस्कल्लिम महतर (दशम शताब्दि) महादेव, काली, महाकाली और लिङ्ग पूजा का वर्णन करता है। इसने अग्निहोत्री और योगियों का भी अपनी पुस्तक में उल्लेख किया है। ब्राह्मणों के सम्बन्ध में लिखा है कि ये गाय की पूजा करते हैं, गङ्गा से पार जाना पाप समझते हैं और किसी दूसरे

को अपने धर्म में नहीं लेते। एक अन्य लेखक अब्दुलकरीम शहरस्तानी ने वृक्षों की पूजा का भी उल्लेख किया है।

इन अरब यात्रियों ने देवमन्दिरों में 'देवदासी' प्रथा का बड़ी घृणा के साथ वर्णन किया है। मूर्तियों के सन्मुख मन्दिरों में अपना जीवन बलिदान करने वाले भक्तों का उन्होंने बड़ा रोमांचकारी चित्र खींचा है। गङ्गा में डूब कर जान देना तो साधारण बात लिखी है। अबूजैद सैराफी कहता है—"इन लोगों का आवागमन पर इतना विश्वास है कि अग्नि में जीवित भस्म हो जाना इनके लिये साधारण बात है। जब कोई अपने आपको भस्म करना चाहता है तो राजा की आज्ञा लेता है। बाजारों में घूमता है, झाँझ बजाई जाती है। एक फूलों का मुकुट जिसमें अग्नि रक्खी होती है उसके सिर पर पहनाते हैं। और वह इस प्रकार धीरे धीरे जलता हुआ पूर्व से प्रज्वलित की हुई अग्नि में कूदकर भस्म हो जाता है।" एक दूसरे व्यक्ति का एक छुरी द्वारा अपना हृदय अपने हाथ से बाहर निकाल कर अपना बलिदान करने का भी इसने वर्णन किया है। एक तीसरे व्यक्ति का मुल्तान के मन्दिर में अपने शरीर पर तैल और रुई लपेट कर जलने और अपनी बलि देने का रोमांचकारी दृश्य चित्रित किया है।

मूर्तिपूजा का अंधविश्वास, इस आर्यजाति को कहाँ से कहाँ ले पहुँचा, इसकी साक्षी में दिये गए उपर्युक्त उद्धरण से अधिक और क्या कहा जा सकता है? साम्प्रदायिक अन्धविश्वास के उन्माद में मनुष्य क्या नहीं कर सकता, इसके जीते-जागते उदाहरण और क्या हो सकते हैं?

जिन अरब यात्रियों के उद्धरण हमने ऊपर दिए हैं उनसे तथा इसी प्रकार अन्य विवरणों से मूर्तिपूजा के इतिहास पर एक और

प्रकाश पड़ता है। इन यात्रियों ने, जिनका समय प्रायः ९ वीं शताब्दि से लेकर ११ वीं शताब्दि तक आंका जाता है, हिन्दुओं के जिन विभिन्न धार्मिक विश्वासों तथा प्रचलित मूर्तियों का उल्लेख किया है उनमें विष्णु की मूर्ति अथवा वैष्णव सम्प्रदाय के आधारभूत अवतारवाद के सिद्धान्तों का कहीं विशेष वर्णन नहीं है। इससे सिद्ध है कि वैष्णव सम्प्रदाय और उसके अवतारवाद का जन्म, शैव तथा शाक्त सम्प्रदायों से कहीं पीछे का है। अथवा उस समय उसका पश्चिमोत्तर भारत में विशेष प्रचार नहीं था। कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि उस समय का सूर्य देवता ही आगे चलकर विष्णु बन गया क्योंकि वेद मंत्रों में सूर्य के लिये भी अनेक स्थानों पर 'विष्णु' शब्द का प्रयोग हुआ है। विष्णु पुराण अध्याय १५ अंश प्रथम में सूर्य के द्वादश नामों में प्रथम नाम 'विष्णु' लिखा है।

तत्र विष्णुश्च शक्रश्च जज्ञाते पुनरेव च।
अर्य्यमा चैव धाता च त्वष्टा पूषा तथैव च ॥१३१
विवस्वान् सविता चैव मित्रो वरुण एव च।
अंशो भगश्चादितिजा आदित्या द्वादश स्मृताः॥१३२

विष्णु, शक्र, अर्य्यमा, धाता, त्वष्टा, पूषा, विवस्वान्, सविता, मित्र, वरुण, अंश और भग ये द्वादश नाम सूर्य के हैं।

—०—

अन्य प्रमाणों के लिये पं० शिवशंकर काव्यतीर्थ कृत "त्रिदेव-निर्णय" पुस्तक देखिये।

मूर्तिपूजा और मुस्लिम काल (२)

मुहम्मदगौरी के आक्रमण के पश्चात् दिल्ली पर मुसलमानों का अधिकार हो गया। यहाँ तीनसौ वर्ष से अधिक समय तक पठानों ने राज्य किया। उन्होंने भी अगणित तीर्थ और मन्दिर विध्वंस किये। बिना राजाज्ञा प्राप्त किये कोई तीर्थयात्रा नहीं कर सकता था। मुस्लिम धर्म विधान के अनुसार प्रत्येक हिन्दू से जजिया लिया जाता था। कुतुबुद्दीन ऐबक ने हाँसी, दिल्ली, मेरठ कोयल, रणथम्भौर, अजमेर, ग्वालियर, कालिंजर पर आक्रमण किये। हजारों मन्दिरों को विध्वंस किया और लाखों हिन्दुओं को तलवार के घाट उतार दिया।

कुतुबुद्दीन के गुलाम मुहम्मद इब्नेबख्त्यार ने विहार और बङ्गाल पर चढ़ाई की। मार्ग में विश्वनाथ महादेव की सुरक्षित नगरी मे हजारों मन्दिरों को विध्वंस किया। विहार के एक बौद्ध विद्यापीठ और पुस्तकालय को जिसमें १२ सहस्त्र भिक्षु रहते थे जलाकर भस्म कर दिया और समस्त भिक्षुओ के शिर उड़ा दिये गये। कुछ दिनों पश्चात् अल्तमश ने उज्जैन पर आक्रमण किया और महाकाल के मन्दिर को विध्वंस कर करोड़ों की सम्पत्ति लूटली। इसी प्रकार तीनसौ वर्ष तक हिन्दुओं का विनाश होता रहा।

इन्हीं पठानों के राज्यकाल में अफगानिस्तान से तैमूर ने इस देश पर आक्रमण किया। उसने अपने सैनिकों को बुला कर

कहा—"आप जानते हैं कि हिन्दुस्तान के आदमी मूर्तिपूजक हैं और सूर्य की पूजा करने वाले काफिर हैं। खुदा और रसूलेखुदा की आज्ञा है कि ऐसे काफिरों को कत्ल करो। मेरा विचार हिन्दुस्तान पर जहाद की चढ़ाई करने का है। इस पर सब लोग 'आमीन अल्लाह' चिल्ला उठे और १३९८ ई० में उसने भारत पर आक्रमण किया। वह जहाँ होकर जाता नगरों ग्रामों को लूटता, उनमें आग लगाता, निरपराध नर-नारियों को कत्ल करता और बन्दी बनाता था। भटनेर में उसने एक घन्टे में दश सहस्र हिन्दुओं को मरवा डाला। दिल्ली पहुँचते-पहुँचते उसके पास दो लाख बन्दी होगये। अतः उसने आज्ञा दी कि पन्द्रह वर्ष से अधिक आयु वाले स्त्री-पुरुष कैदी कत्ल करा दिये जायं ऐसा ही किया गया। रक्त की नदी बहने लगी। पाँच दिन तक देहली में लूट, नरहत्या, सतीत्व नाश का अखण्ड राज्य रहा। लाखों हिन्दू मार डाले गये। दिल्ली से मेरठ पर आक्रमण किया और पचास हजार स्त्री-पुरुष कत्ल कर दिये और असंख्य जवान स्त्री-बच्चे बन्दी बना लिये गये। प्रत्येक सैनिक के पास बीस से सौ तक कैदी आये। यहाँ से वह हरिद्वार गया। वहाँ एक पर्व था, यात्रियों की बड़ी भीड़ थी। मेले में उसने कत्ले आम की आज्ञा देदी। गङ्गा का जल रक्त से लाल होगया। मन्दिरों की क्या दुर्दशा हुई होगी इसका पाठक स्वयं अनुमान लगालें। वह लूट मार करके काबुल लौट गया। वह यहाँ से इतना धन लेगया कि ८ वर्ष तक उसकी सेना को समय से पूर्व ही वेतन प्राप्त हो जाता था।

अब समस्त उत्तर-पश्चिमी भारत मुसलमानों के आधीन था। हिन्दू जाति नष्टप्राय. हो चुकी थी। उसमें प्रतिरोध शक्ति का सर्वथा अभाव था। जहाँ एक-एक सैनिक जिस जाति के

सौ-सौ मनुष्यों को बन्दी बनाकर अपने वश में रख सकता हो, क्या उसे मनुष्य कहा जा सकता है ? सौ तो भेड़ बकरी भी एक व्यक्ति के वश में सरलता से नहीं रह सकतीं।

एक समय आया कि पठान राज्य भी नष्ट हुआ और इस देश के विधाता मुगल बने। अकबर जहाँगीर और शाहजहाँ के राज्यकाल में इस्लामी मदान्धता में कुछ कमी आगई। इन्होंने हिन्दू मुसलमानों के साथ समान व्यवहार करने का प्रयत्न किया। इनका राज्य-विस्तार भी सुदूर दक्षिण को छोड़ कर समस्त भारत मे हो चुका था। किन्तु फिर भी राज्य व्यवस्था में बहुत कुछ मुस्लिम विधान का ही दौर दौरा था। यह सब कुछ होते हुए भी यह समय बहुत अंशों में शान्ति का समय था। इस काल में भी हिन्दुओं को धार्मिक स्वतन्त्रता थी, यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि राज्याधिकारी प्रायः मुसलमान ही थे और प्रत्येक मुसलमान धर्म प्रचार अपना कर्तव्य समझता है, अत. हिन्दुओं के प्रति धार्मिक सहिष्णुता की उनसे आशा रखना व्यर्थ था। हिन्दुओं की दशा पूर्व से कुछ अच्छी थी किन्तु फिर भी दास दास ही है।

शाहजहाँ को वन्दी वनाकर औरङ्गजेब दिल्ली के सिंहासन पर आरूढ हुआ। यह कट्टर मुसलमान था और हिन्दुओं को घृणा की दृष्टि से देखता था। काशी पहुँच कर उसने पण्डितों को आज्ञा दी कि सब प्रकार का पठन पाठन बन्द कर दिया जाय। प्रसिद्ध प्रसिद्ध मन्दिरों को तुड़वाकर उसने मस्जिदें वनादीं। विश्वनाथ महादेव की मूर्ति को पुजारियों ने तोड़े जाने के भय से एक कुएं में डाल दिया। इस समय भी मन्दिर के स्थान पर मस्जिद खड़ी है। मथुरा में भी उसने यही किया और हजारों

हिन्दुओं को कत्ल कर दिया। औरङ्गजेब की बनाई मस्जिद आज भी ठीक मथुरा के बीचों बीच विद्यमान है। इसने प्रत्येक प्रान्त के शासक को आज्ञा पत्र भेजा कि समस्त मन्दिर ढहा दिये जायँ, मूर्तियाँ तोड़ दी जायँ, और पाठशालायें बन्द करदी जायं। कुरुक्षेत्र के मेले में जाकर लाखों हिन्दुओं को इसने अकारण ही कत्ल कर दिया। हिन्दुओं से इसने जजिया लेना भी फिर से प्रारम्भ कर दिया। इस तरह कुछ समय की शान्ति के पश्चात् हिन्दुओं का पुन: विनाश होने लगा।

औरङ्गजेब के अत्याचार से फिर एक बार हिन्दू क्षुब्ध हो गये और लगभग पाँच सौ वर्षों तक घोर अत्याचार सहन करने के पश्चात् मुस्लिम शक्ति के विरुद्ध उठ खड़े हुए। पञ्जाब में गुरु गोविन्दसिंह, और दक्षिण में शिवाजी ने सैनिक शक्ति संगठित करके औरङ्गजेब का विरोध करना प्रारम्भ कर दिया। अन्त में औरङ्गजेब बुड्ढा होकर लड़ते-लड़ते दक्षिण में मर गया। और इस प्रकार मुगल साम्राज्य भी विनाश की ओर अग्रसर होने लगा।

औरङ्गजेब के उत्तराधिकारियों ने प्रजा को सन्तुष्ट करने की चेष्टा की किन्तु सब विफल हुई। सिक्खों ने पश्चिमोत्तर भारत पर अधिकार कर लिया। मध्य और दक्षिण भारत में राजपूत और मराठों ने अपना आधिपत्य जमा लिया और मुगल राज्य केवल दिल्ली के इर्द गिर्द ही रह गया। हिन्दुओं को फिर एक वार सङ्गठित होकर स्वाधीन होने का अवसर मिला किन्तु इनकी आन्तरिक विभिन्नतायें जिनसे वे आज भी मुक्त नहीं हैं, इनके मार्ग में चट्टान बनकर आ खड़ी हुई और वे जहाँ के तहाँ ही रह गये।

सातवीं शताब्दि के प्रारम्भ से लेकर सत्तरहवी शताब्दि

के अन्त तक का संक्षिप्त लोमहर्षी इतिहास, मूर्तिपूजा द्वारा उत्पन्न हमारी मानसिक दुर्बलता, और इसी दुर्बलता के कुपरिणामस्वरूप हिन्दू जाति के सामाजिक और राष्ट्रीय अधः पतन का भलीभाँति दिग्दर्शन कराता है।

पन्द्रहवीं शताब्दि तक योरुप में भी मूर्तिपूजा प्रचलित थी। वहाँ के ईसाई रोमन कैथोलिक मूर्ति पूजक थे, और पोप और मौङ्कों की ठीक वही अवस्था थी जो यहाँ महन्तों और पुजारियों की। योरुप की घोर दुरवस्था थी। नवीं शताब्दि में अरब के मुसलमानों ने समस्त योरुप को रौंद डाला और एक बार वहाँ भी गिरजों का विध्वंस किया गया। लाखों ईसाई तलवार के घाट उतार दिये गये। किन्तु योरुप में सोलहवीं शताब्दि में एक महान् धार्मिक क्रान्ति हुई। मार्टिन लूथर ने प्रोटस्टैण्ट ईसाई धर्म को जन्म दिया, जिससे ईसाई धर्म की मूर्तिपूजा, पोप और महन्तों के दुष्कर्म सभी भस्म हो गये। योरुप के वर्तमान उत्थान का सूत्रपात इसी समय से प्रारम्भ होता है। सत्य तो यह है कि जो जाति ईश्वर से विमुख होकर मूर्ति आदि जड़ जगत् को अपना उपास्यदेव मान बैठती है उसे सदा इसी प्रकार अन्धकार में पड़कर घोर यातनायें सहनी पड़ती हैं। हिन्दू जाति इसका ज्वलन्त उदाहरण है। इस मूर्तिपूजा का उसे कितना भारी मूल्य चुकाना पड़ा। बार बार हिन्दू मन्दिरों को विध्वंस किया गया, मूर्तियां तोड़ी गईं, और उन्हें मस्जिदों और महलों की सीढ़ियों तक में लगाया गया। तीर्थ स्थानों का असंख्य धन लूटा गया, करोड़ों निरपराध हिन्दुओं को उसके लिए अपना जीवन तक देना पड़ा। परन्तु फिर भी पुराने मन्दिरों के स्थानों पर नये मन्दिर बना दिये गये। टूटी हुई मूर्तियों के स्थान पर नवीन

मूर्तियों की प्राण-प्रतिष्ठा कर दी गई। उजड़े तीर्थ-स्थान पुनः बसा दिए गए। क्या मूर्तिपूजा में वास्तव में ऐसा ही आकर्षण है? क्या इसमें इतनी आध्यात्म शान्ति है कि उसके बिना इस जाति का कार्य चल ही नहीं सकता? सत्य तो यह है कि इनमें से इसमें एक भी बात नहीं है। इन सब की तह में वही व्यवसाय बुद्धि कार्य कर रही है जो एक व्यापारी को बार बार हानि उठाने पर भी अपने कारोबार को नये सिरे से करने के लिये प्रेरित करती रहती है।

इन मूर्तियों के बल पर मन्दिर, और मन्दिरों के बल पर तीर्थ स्थान अपना व्यापार चला रहे हैं। इनसे महन्तों को लाखों की आय है। पुजारियों को वेतन और खाने को मोहन भोग मिलते हैं। पण्डों के यात्रियों के आगमन से पौ बारह हैं। व्यापारियों की यात्रियों के द्वारा क्रय विक्रय से दुकान चलती हैं और राज्य को कर की आय है। यात्रा से लौट कर बड़े बड़े ब्रह्म भोज, दान दक्षिणा सभी इस मूर्तिपूजा की देन हैं। फिर बताइये उसे जीवित न रक्खा जाय तो क्यों न रक्खा जाय? इसीलिये यह चक्र लगभग पन्द्रह सौ वर्ष से यहाँ निरन्तर चल रहा है।

हिन्दू जाति की इस दुर्दशा को देखकर, मुस्लिम काल में, अनेक सन्तों ने इस मूर्तिपूजा के विरुद्ध आवाज उठाई। पजाब में गुरु नानक ने हिन्दुओं को इस अन्ध-विश्वास से मुक्त करने का भारी प्रयत्न किया। इनके पश्चात् अनेक सिक्ख गुरु भी मूर्तिपूजा की उसी प्रकार आलोचना करते रहे। गुरुओं की वाणी को गुरु ग्रंथ साहब में संग्रह किया गया है। हम उसके मूर्तिपूजा विषयक कुछ स्थल अगले पृष्ठ पर देते हैं:—

पाथर ले पूजहि मुगध गँवार।
ओहिजा आपि डूबे तुम कहा तरन हार॥
बुत पूज पूज हिन्दू मुये तुरक मुये सिरुनाई।
ओह ले जारे ओह ले गाड़े तेरी गति दुहु न पाई॥
पूजि शिला तीरथ बनवासा।
भरमत डोलत भये उदासा॥
घरमहि ठाकुर नदरि न आवै।
गलमहि पाहरणु लै लटकावै॥
जिस पाहन कउ ठाकुरु कहता।
ओह पाहरणु लै उस कउ डुबता॥
गुनहिगार लूण हरामी। पाहणनाव न पार गिरामी॥

गुरु गोविन्दसिंह जी दशम ग्रंथ में मूर्तिपूजा का खण्डन करते हुए लिखते हैं.—

१—इक विनु सौन चिनार।
भंजन गड़न समर्थ सदा प्रभु जानत है करतार॥
कहा भयो जो अति हित चितकर वहु विधि शिला पुजाई।
पान थके पाहन कहि परसत कछुकर सिद्ध न आई॥
अछत धूप दीप अरपत है पाहन कछु न खद है।
ताँ मे कहाँ सिद्ध है रे जड़ तोहि कछू वर देहै॥
जो जिअ होत देत कछु तुहि मन वचन कर्म विचार।
केवल एक शरण स्वामी विन यौं नहिं कतहि उधार॥

२—काहू लै पाहन पूजि धरयो सिरकाहू लै लिंग गरे लटकायो।
काहू लखयो हरि आवाची दिशा महि काहु पछाह को शीश निवायो॥
कोऊ बुताने को पूजद है पशु कोऊ मृतान को पूजन धायो।
कूर किया उरझयो सब ही जग श्री भगवान् को भेद न पायो॥

गुरु ग्रंथ साहब में भक्त कबीर की वाणी का भी संग्रह किया गया है। कबीर साहब ने बड़े कडे शब्दों में मूर्तिपूजा की आलोचना की है। उन्होंने अपनी साखियों में लिखा है :—

१—पाती तोरै मालिनी पाती पाती जीऊ ।
जिस पाहन को पाती तारै सो पाहन निरजीऊ ॥
पाषाण गढ़ि के मूरति कीनी देकै छाती पाउ ।
जे एह मूरति साची है तउ ढढ़नहारे खाउ ॥
भातु पहिति अरु लापसी करकरा कासारू ।
भोगन हारे भोगिया इसु मूरति के मुख छारु ॥

२—जो पाथरु को कहते देव । ताकी वृथा होवे सेव ॥
जो पाथरु की पाई पाय । तिसकी थाल अंजाई जाय ॥
अन्तरि देव न जानै अन्धु । भ्रम का मोहिआ पावै फन्धु ॥
न पाथर बोलै ना किछु देई । फोकट कर्म निष्फल है सेव ॥
जो मृतक को चन्दन चढ़ावै। उसते कहहु कवनि फल पावै ।
जो मृतक को विष्टा माहि रुलाई। तां मृतक का क्या घटि जाई ॥
कहत कबीर हौं कहहहुँ पुकार। समझ देख साकत गवार ॥

३—देवी देव पुजहि डोलहि पारब्रह्म न जांना ।
कहत कबीर अकलु नहिं चेतिआ विषया सिउ लिपटाना ॥

४—पाथर पूजे हरि मिले तो हम पूजें पहार ।
या पाथर से चक्की भली जो पीस खाई संसार ॥

दादू कबीर के शिष्य थे। इन्होंने भी कबीर की भांति मूर्तिपूजा की आलोचना की और उसका विरोध किया । दादू कहते हैं :—

पत्थर पीवे धोईकै पत्थर पूजै प्रान ।
अन्तकाल पत्थर भये भव डूबे अज्ञान ॥

एक और प्रसिद्ध सन्त मलूकदास अकबर के समय में हुए हैं उन्होंने भी मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रा आदि का खण्डन किया।

सत्य नामी सम्प्रदाय के संस्थापक वीरभान दादू के समकालीन थे। उन्होंने सत्य-नामियों के "आदि-उपदेश" में '१२ हुकम' दिए हैं जिनमे पहिले हुकम मे वे लिखते हैं :—

'केवल एक ही ईश्वर को मानो। मिट्टी, पत्थर, लकड़ी या और किसी वनी हुई चीज की पूजा न करो।' इसी प्रकार अपने आठवें हुकम मे उन्होंने लिखा है कि किसी मूर्ति के सामने सिर मत झुकाओ।

औरङ्गजेब के समय में प्राणनाथ एक गुजराती सन्त हुए। हैं। इन्होंने भी मूर्तिपूजा का विरोध किया।

एक अन्य सन्त चरनदास भी मूर्तिपूजा के विरोधी थे। रामसनेही सम्प्रदाय के संस्थापक रामचरन ने भी मूर्तिपूजा की आलोचना की है।

सन्त नामदेव के गुरू खेचर ने नामदेव को जो उपदेश दिया उसमे सिद्ध है कि वे भी मूर्तिपूजा के कट्टर विरोधी थे। उन्होंने कहा है :—

पत्थर का देवता कभी नहीं बोलता, तो फिर वह हमारे इस जीवन के दु'खों को कैसे दूर कर सकता है ? पत्थर की मूर्ति को लोग ईश्वर समझ वैठते है, किंतु सच्चा ईश्वर विल्कुल दूसरा ही है। यदि पत्थर का देवता हमारी इच्छायें पूरी कर सकता तो गिराने पर वह टूट क्यों जाता ? जो लोग पत्थर के वने हुए देवता की पूजा करते है वे अपनी मूर्खता से सय कुछ खो वैठते हैं। जो लोग यह कहते हैं और जो यह सुनते हैं कि पत्थर का देवता अपने भक्तों से वातचीत करता है, वे दोनों मूर्ख है। भक्त रैदास ने भी अपने उपदेशों में मूर्तिपूजा और अवतारवाद का विरोव किया है।

महाराष्ट्र प्रान्त में तीन प्रसिद्ध सन्त हुए हैं। सन्त तुकाराम समर्थगुरु रामदास तथा सन्त ज्ञानेश्वर। इन सन्तों ने भी मूर्ति-पूजा और अवतारवाद का पर्याप्त खण्डन किया है।

सन्त तुकाराम मूर्तिपूजा के सम्बन्ध में बड़े दु:ख से कहते हैं :—

ज्याने देहासि निर्मिले, जीव त्याने वसरले।
ज्याच्या सत्ते ने वर्तती, मूढ़ त्याने न जाणति।
जैसे गर्भान्ध जन्मती, आपूल्या मातेला नेणति।
तैसे नेणूनी चेतन, पूजिदगड अचेतन।

जिस प्रभु ने कृपा करके जीव के लिये मनुष्य देह को बनाया, जीव ने उस प्रभु को भी विसार दिया। जिस प्रभु की सत्ता से ही प्राणीमात्र अपना अपना व्यवहार कर रहे हैं मूढ़ लोग उस प्रभु को नहीं देख सकते। वैसे अज्ञानी लोग चेतन प्रभु को न जानकर अचेतन पत्थर आदि की पूजा करते हैं। सन्त तुकाराम आगे फिर लिखते हैं :—

ज्याला टाकिने फोड्ति, त्याच्या पुढ़े हाथ जोडिती।
ज्यांच्या शोच कूप घडविती, त्याला देव ठरविति॥
पूजा उपचार अर्पिती, अत्यादरे नमस्कारिती।
परीतो ऐके बोले न पाहे, मूढ़ त्यासी मानि ताहे॥

अर्थात् वे मूर्तिपूजक मूर्ति बनाते समय इस पत्थर को हथौड़े से घढ़ते तथा फोड़ते हैं, फिर उसी मूर्ति के सामने हाथ जोड़ते हैं। जिस पत्थर को भगवान् कह कर उसकी पूजा उपचार करते हैं, उसके आगे बड़े आदर से हाथ जोड़ते हैं। कितने आश्चर्य की बात है कि वह पत्थर न तो सुनता है, न बोलता है और न देखता है किन्तु मूढ़ लोग उसे ही परमेश्वर मान रहे हैं।

सन्त तुकाराम ने मूर्तिपूजा की आधुनिकता का वर्णन निम्न शब्दों मे किया है :—

दगडाचे देव पूर्वी नव्हते जाणु, जनहे अज्ञान झाले जेन्हा ।
जनहे अज्ञानी दगड़ा मानिले, गुरुसि त्यागले मूढ़ पणे ॥

हे मनुष्यो ! तुम यह निश्चय समझो कि प्राचीन समय में पत्थरों के देव नहीं हुआ करते थे । जब लोग अज्ञानी बन गए उन अज्ञानी लोगों ने पत्थरों को मानना प्रारम्भ कर दिया और अपनी मूर्खता से सच्चे गुरु को त्याग दिया । पाँच चेतन मूर्तियों की पूजा ही सच्ची मूर्तिपूजा है । इसका उल्लेख उन्होंने निम्न शब्दों में किया है :—

माता पिता आचार्य अतिथि गुरु सचेतन मूर्ति ।
त्याला शरण तूं जावसी, तरी च कल्याण पावसी ॥

हे जीव ! माता, पिता, आचार्य, अतिथि और गुरु यही पॉच चेतन मूर्तियॉं हैं । इनकी ही यदि तू शरण में जाएगा तभी तेरा कल्याण होगा । सन्त तुकाराम अवतारवाद का भी निम्न शब्दों में खण्डन करते हैं :—

नाहीं रूप नाहीं नाव नाहीं ठांव धराया ।
जेथे जावे तेथे आहे विट्ठल मायबहिन ॥

अर्थात् परमेश्वर ने न तो कोई रूप धारण किया, न ही कोई नाम रखाया और न कहीं जन्म लिया । वह मेरी सच्ची माता बहिन तो जहॉ जावे वहीं रम रही हैं । एक स्थान पर भगवान् के गुणों का वर्णन करते हुए वह कहते हैं :—

ऐसा चेतन निराकार त्यासी कल्पिती आकार ।
परिपूर्ण अविनाश, त्यासी मानिती विनाश ॥
अव्यक्तासी व्यक्ति मानुनी करी स्थूल भक्ति ।
तोचे मूढमति नर, व्यर्थ जन्म ले पामर ॥

मूढ़ लोग ऐसे चेतन निराकार प्रभु के भी आकार की कल्पना करते हैं। अर्थात् उस निराकार प्रभु का अवतार आदि मानकर उसे साकार बनाते हैं। और जो प्रभु सबमे परिपूर्ण और अविनाशी है इसका भी नाश मानते हैं। उस अव्यक्त प्रभु को व्यक्ति मानकर उसके स्थूल आकार अर्थात् मूर्ति आदि की पूजा करते हैं। संसार मे ऐसे लोग मूढ़ और पामर हैं। उन्होंने व्यर्थ ही जन्म लिया है।

छत्रपति शिवाजी के समर्थ गुरु रामदास अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ दासबोध मे ईश्वर को सर्वान्तर्यामी समझ प्राणि-मात्र की सेवा करने और परमेश्वर के पवित्र नाम जप करने को ही ईश्वर की सच्ची भक्ति बताकर आगे लिखते हैं.—

सहज सोडूनि सायास, हाचि कोणी एक दोष।
आत्मा सोडूनि अनात्म्यास ध्यानी धरती ॥
परितो धरिता हि धरेना ध्यानि येती व्यक्ति नाना।
उगेचि कष्टविती मना कामा वीस करनी ।
मूर्ति ध्यान धरिता सायासे, तेथे एक चि एक दिसे भासों
नये तेचि भासे, विलक्षण ॥

अर्थात् मनुष्यों के अन्दर यही भारी दोष है कि वे परमेश्वर के उपर्युक्त सरल ध्यान को छोड़ कर अनात्मा अर्थात् जड मूर्ति का ध्यान करने लग जाते हैं। किन्तु वास्तव मे मूर्ति के द्वारा परमेश्वर का ध्यान कर ही नहीं पाते। क्योंकि मूर्ति का ध्यान करते समय इनको अनेक प्रकार की मूर्तियां दीखने लगती हैं. जो कि उपासक के मन को डावाँडोल कर व्यर्थ ही में उसे उल्टा कष्ट देने का कारण बनती है।

उपासक को कष्टसाध्य मूर्ति का ध्यान करते समय कुछ और का और ही दीखने लग जाता है। जिसका उसे समय

भान भी नहीं होना चाहिए वह भी होने लगता है जो कि उपासक के मन को चंचल और दुखी बना देता है।

अवतारवाद के सम्बन्ध मे उन्होंने अपने विचारों को निम्न शब्दों मे व्यक्त किया है :—

देवदास देहधारी कल्पिती, तेथे नाना विकल्प उठती ।
भागणे त्यागने विपत्ति, देह योगे ॥
(दास बोध दशक १४ समास ८)

अर्थात् मूर्तिपूजकों के सन्मुख जहाँ अन्य बहुत सी कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं, वहाँ उन्हे परमेश्वर को भी देहधारी कल्पना करना पड़ता है। उस समय उनके मन में अनेक विचार उठने लगते हैं। यदि परमेश्वर ने देह धारण की होगी तो देह योग के कारण वह भोग, त्याग और विपत्ति में भी फँसा होगा। इसी दासबोध में एक स्थल पर लिखा है :—

धातु पाषाण मृत्तिका, चित्रलेख काष्ठ रेखा ।
तेथे देव कैचा मूर्खा, भ्रान्ति पडली ॥

हे मूर्ख ! धातु पत्थर मिट्टी चित्र और काष्ठ में परमेश्वर कहाँ है ? तू भ्रम से उसकी पूजा में लगा है।

सन्त ज्ञानेश्वर ने गीता के ऊपर "ज्ञानेश्वरी" नाम का महाराष्ट्र की "ओवी" नाम की कविता में भाष्य किया है जो कि बहुत ही प्रसिद्ध है। अन्य कई भाषाओं में भी उसका अनुवाद हुआ है। उसमें गीता के—"अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्" इस श्लोक का भाष्य करते समय मूर्तिपूजा आदि के सम्बन्ध मे बडे सुन्दर भावों को दर्शाया है। जिसके कुछ अंश निम्न प्रकार हैं :—

जैसा कृत निश्चय वाया गेला, जैसा कोणीं काँजी प्याला। मज परिणाम पाहोंला गला अमृताचां, तैसे स्थूलकारी नाशीवंते, मरवंसा बान्धोनि चित्ते ।

पाहती मज अवि नाशातें, तरी केंचा दिसे।

जैसे कोई काँजी पीकर अमृत का फल प्राप्त करना चाहे इसी प्रकार जो नाशवान् मूर्ति आदि स्थूल पदार्थों में अपने चित्त को उन्हें ईश्वर समझ कर लगाते हैं और उस अविनाशी ईश्वर को देखना चाहते हैं, उनका प्रयास भी विफल ही जाता है। इसी प्रकार आगे अवतारवाद का खण्डन करते हुए सन्त ज्ञानेश्वर ने लिखा है :—

गंव आकार एक पुढ़ा देखती, तवं हा देव येणें भावें भजती।
मगतेचि विगडलिया टाकिती, नाही म्हणोनि।

यह मूर्तिपूजक जब भी कोई पत्थर आदि का आकार सामने देखते हैं तभी यह परमेश्वर है, ऐसा समझ कर पूजा करने लगते हैं और जब वही आकार किसी प्रकार से विगड़ जाता है तो ये ईश्वर नहीं है ऐसा कह कर उसे फेंक देते हैं।

इसी भांति लिङ्गायत सम्प्रदाय के सन्त वस्वेश्वर कहा करते थे :—एक ईश्वर के सिवाय कोई दूसरा देवता नहीं है। छोड़ो ! छोड़ो ! अन्य देवी देवताओं का विचार करना भी पाप है। एक परमेश्वर के सिवाय अन्य देवों का स्मरण करना व्यभिचार है। एक ईश्वर ही हमारा पूज्य है। जब शरीर ही मन्दिर है तो दूसरे मन्दिर की आवश्यकता क्या है ? कहीं कोई वर्तन देवता है, कहीं कोई वृक्ष देवता है, कहीं गली में पड़ा हुआ पत्थर देवता है। मित्रो, देखो ! इन असंख्य देवताओं के कारण कहीं खड़े होने को स्थान नहीं रहा। मेरी बात पर विश्वास करो। देवता केवल एक ही है, और वही हमारा सबका परमेश्वर है।

दक्षिण भारत के सबसे बड़े योगियों में से एक शिवाक्यिवर हुए हैं। उन्होंने लिखा है :—

नट्ट कल्लै दैव मेन्रु वालु पुष्पं सात्तिये,
सुत्तिवन्दु मोन मोनेन्रु सोल्ल मंत्र मेतडा।
नट्ट कल्लम् पेसुमो नाद नुल्लि रुक्कै यिल्,
सुट्ट सट्टि सट्टुवम् करिच्चुवै यरि युमौ॥

मंत्र पढ़ते हुए मूर्ति की परिक्रमा करने से क्या लाभ जब परमात्मा स्वयं हमारे अन्दर विद्यमान है ? जिस पात्र में हम भोजन पकाते हैं वह पात्र उस भोजन का स्वाद नहीं जानता। जिस मूर्ति की मनुष्य ने स्थापना की है वह बोलती तक नहीं।

दक्षिण भारत के एक तामिल आचार्य माणिक्कवाचकर ने मूर्तिपूजा का खण्डन करते हुए लिखा है :—

कल्लिलुम् शेमिवलुमो इरुधान एङ्ग तूकण्णुतले।

क्या ईश्वर जो आँख की पुतली की तरह प्रिय है, वह पत्थर अथवा धातु को अपना निवास स्थान बना सकता है ?

मुसलमानो द्वारा मन्दिरो तथा मूर्तियों के निरन्तर विध्वंस के कारण न केवल विवेकी हिन्दू समाज अपितु जनसाधारण भी पौराणिक धर्म के बहु ईश्वरवाद एवं मूर्तिपूजा की निस्सारता का प्रत्यक्ष अनुभव करने लगा था। ऊपर दिये गए सन्तों के उद्धरण उस विचारधारा का जो उस समय देश में बह रही थी, एक सुस्पष्ट प्रमाण है। इन सन्त मतों का भी उस समय देश पर अच्छा प्रभाव पड़ा। सिक्खों के शक्ति संग्रह और महाराष्ट्र के तत्कालीन उत्कर्ष में इनका अच्छा हाथ था। सम्भव है कि उस समय के हिन्दुओं का इतिहास कुछ भिन्न प्रकार से ही लिखा जाता, किन्तु एक हजार वर्ष के मुस्लिम अत्याचारों से पददलित हिन्दू अभी भली प्रकार सँभलने भी न पाया था कि पश्चिम की योरुपीय जातियों का यहाँ पदार्पण हो गया। उनकी कूटनीति ने हिन्दुओं की बिखरी हुई शक्ति को पुनः

सङ्गठित होने का अवसर न दिया। कदाचित् हिन्दुओं को अपने अवशेष पापों का फल अभी और भोगना था।

एक बात यह भी थी कि प्रायः यह समस्त सन्त, भक्त और महात्मा उच्च कोटि के विद्वान् न थे यह प्रायः न केवल प्राचीन वैदिक संस्कृत साहित्य से अनभिज्ञ थे अपितु इनमें से बहुत से तो संस्कृत भाषा भी नहीं जानते थे। इन्हे वैदिक एकेश्वरवाद और उपासना विधि का भी पूरा ज्ञान नहीं था। इनमे न महात्मा बुद्ध की सी तपस्या थी और न शङ्कर स्वामी जैसा पाण्डित्य था जो भारतीय विचारों को प्रभावित करता। अतः इनका प्रभाव सीमित ही रहा। किंतु फिर भी इन्होंने अपनी शक्ति और सामर्थ्यानुसार उस समय अच्छा सुधार कार्य किया।

—०—

मूर्तिपूजा और वर्तमान सुधारकाल

मुस्लिम सत्ता के पतन और अंग्रेजी राज्य स्थापना के मध्य फिर इस देश में एक बार उथल-पुथल हुई। परन्तु शीघ्र ही शान्ति स्थापित हो गई। अंग्रेजों द्वारा धार्मिक स्वतन्त्रता की घोषणा ने लगभग एक हजार वर्ष के पश्चात् हिन्दुओं को धर्म के विषय में पुनः सोचने-समझने का अवसर दिया। योरुपीय जातियों के आगमन के साथ-साथ ईसाई पादरियों का भी इस देश मे पदार्पण हुआ। मुगल सम्राटों के समय में ही इन्होंने किसी-न-किसी रूप मे अपना प्रचार कार्य प्रारम्भ कर दिया था। इनका कार्यक्षेत्र आरम्भ मे दक्षिणीय तट पर स्थित प्रान्त ही थे और सवर्ण हिन्दुओं से पीड़ित असवर्ण जातियाँ ही स्वभावतः इनके प्रभाव मे आईं।

अंग्रेजों के राज्यारूढ़ होते ही योरुप के अनेक ईसाई मिशनों ने समस्त भारत मे अपने प्रचार-केन्द्र स्थापित कर दिये। उन्होंने स्थान-स्थान पर मिशन स्कूल खोले, और अंग्रेजी भाषा की शिक्षा के साथ ईसाई धर्म और पश्चिमी सभ्यता में यहाँ के युवकों को दीक्षित करना प्रारम्भ कर दिया। राज्य की ओर से ईसाई-धर्म-प्रचार में कोई सीधा सहयोग तो नहीं था, किन्तु मिशन स्कूलों और अस्पतालों को राज्य की ओर से मुक्तहस्त से आर्थिक सहायता दी जाती थी। परिणामस्वरूप इन शिक्षणालयों द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से हिन्दू शिक्षित समाज धीरे

धीरे ईसाई धर्म से प्रभावित होने लगा। बहुत से युवक ईसाई हो गये और बहुत से ईसाई धर्म की विशेषता और हिन्दू धर्म, जो केवल पौराणिक रूढ़ियों का एक पिंजरमात्र था, की हेयता का अनुभव करते थे। पौराणिक धर्म का सबसे निर्बल मर्मस्थान मूर्तिपूजा ही इन पादरियों का प्रहार केन्द्र था।

बङ्गाल के सुप्रसिद्ध सुधारक राजा राममोहन राय ने इस नई आपत्ति का अनुभव किया और ब्रह्म समाज की स्थापना की। उन्होंने हिन्दू जाति को मूर्तिपूजा के अन्ध विश्वास से निकालने का भरसक प्रयत्न किया। राजा राममोहन राय अरबी, अँग्रेजी और संस्कृत के अच्छे पण्डित थे। उन्होंने अपने लेखों में मूर्तिपूजा का विद्वत्तापूर्ण एवं युक्तियुक्त खण्डन किया है। उनके तत्संबंधी अनेक उद्धरण न देकर हम केवल दो, पाठकों के अवलोकनार्थ उपस्थित करते हैं।—

Many learned Brahmins are perfectly aware of the absurdity of idolatry, and are well informed of the nature of the purer mode of divine worship. But as in the rites, ceremonies, and festivals of idolatry, they find the source of comforts and fortunes, they not only never fail to protect idol worship from all attacks, but even advance and encourage it in the utmost of their power, by keeping the knowledge of their scriptures concealed from the rest of the people Their followers too, confiding in these leaders, feel gratification in the idea of the Divine Nature residing in a being resembling themselves *in birth*, shape and propensities, and are naturally delighted with

a mode of worship agreeable to the senses, though destructive of moral principles, and the fruitful parent of prejudice and superstition "

(Works of Raja Rama Mohan Roy
Vol I, p 70)

बहुत से विद्वान् ब्राह्मण मूर्तिपूजा की निस्सारता तथा ब्रह्मोपासना की अधिक सङ्गत और शुद्ध विधि से भली-भांति परिचित हैं परन्तु मूर्तिपूजा सम्बन्धी परिक्रियायें और उत्सव उनके लिये प्रत्येक सुविधा और धन उपार्जन के साधन प्रस्तुत करते हैं। अतः ये न केवल मूर्तिपूजा पर किये गए समस्त आक्षेपों का समाधान करने के लिये सदा तत्पर रहते हैं अपितु उसके प्रचार और प्रोत्साहन में अपनी सारी शक्ति लगा देते हैं। इस कार्य सिद्धि के निमित्त वे धर्म-शास्त्रों को भी सर्व साधारण से छिपाये रखने का प्रयत्न करते हैं। इनके अनुगामी भी उन नेताओं में अन्ध श्रद्धा रखते हैं। वे इस विचार में ही परम सन्तोष का अनुभव करते हैं कि उन जैसे ही प्राणी में जो जन्म, आकृति और गुणों में उनके ही तुल्य है, दैवी शक्ति का निवास है और स्वभावतः उस पूजा विधि में ही सन्तुष्ट रहते हैं जो केवल उनकी ऐन्द्रिक सुख की उपलब्धि में सहायक है। उन्हें इस बात की चिन्ता नहीं कि उक्त विधि नैतिक सिद्धांतों के लिये घातक और अनेक प्रकार की रूढ़ियों और अन्धविश्वास की जननी है। राजा राममोहन राय अपनी आत्मकथा में एक स्थान पर लिखते हैं :—

"The ground which I took in all my controversies was not that of opposition to Brahminism but to a

perversian of it, and I endeavoured to show that the idolatry of the Brahmins was contrary to the practice of their ancestors and the principles of the ancient book and authorities which they profess to revere and obey."

"मैंने अपने समस्त विवादों मे ब्राह्मण धर्म का विरोध नहीं किया, अपितु उसके विपरीत यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि ब्राह्मण धर्म की मूर्तिपूजा, इनके पूर्वजों, प्राचीन धर्म ग्रन्थ एवं उन प्रमाणों के विपरीत है, जिन्हें वे अपने लिये मान्य और आदरणीय समझते हैं।"

राजा राममोहन राय के पश्चात् ब्रह्मसमाज और उसके नेताओं ने बङ्गाल प्रान्त में अच्छा सुधार कार्य किया। परन्तु राजा राममोहन राय के उत्तराधिकारी ब्रह्मसमाज के नेता नव आगन्तुक ईसाई धर्म और पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव से न बच सके। फलत ब्रह्मसमाज विशुद्ध भारतीय संस्कृति का पोषक न रहकर पाश्चात्य सभ्यता के प्रवाह मे बह गया और वह बङ्गाल से आगे न बढ़ सका।

महामान्य गोविन्द रानाडे के प्रार्थना समाज ने भी महाराष्ट्र में मूर्तिपूजा के विरुद्ध प्रशंसनीय कार्य किया किन्तु उसकी दशा भी बहुत कुछ ब्रह्म समाज की सी ही होकर रह गई।

वह भी बम्बई प्रान्त के अंग्रेजी शिक्षित समुदाय तक सीमित रहा और आज उसका नाम भी सुनने मे नहीं आता। ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज दोनों ने ही हिन्दू युवकों को ईसाई धर्म के बढते हुए प्रभाव से रक्षा करने में सराहनीय कार्य किया। इसके लिये हिन्दू जाति, इन दोनों महापुरुषों की सदा आभारी रहेगी।

ठीक इसी समय जब देश धार्मिक तथा सामाजिक क्रांति के तट पर खड़ा था और ईसाई धर्म पाश्चात्य देशों की संरक्षता में यहाँ अपने पैर फैला रहा था, एक तीसरे महापुरुष ने स्वामी दयानन्द के रूप में पदार्पण किया। इस महान् सुधारक में अन्य सन्त और महात्माओं से जिनका कि हमने ऊपर उल्लेख किया है कई विशेषताएं थीं। वह विशुद्ध भारतीय संस्कृति का उपासक था। उसकी समस्त शिक्षा-दीक्षा प्राचीन भारतीय शैली पर संस्कृत भाषा द्वारा हुई थी और उसके समस्त विचार भारतीय संस्कृति से ओत-प्रोत थे।

स्वामी दयानन्द को किस प्रकार बोध हुआ, यह भी हमारे प्रतिपाद्य विषय से गहरा सम्बन्ध रखता है। उस समय दयानन्द की अवस्था केवल १३ वर्ष की थी। वह अपने पिता के यथा एक शिवालय मे शिवरात्रि का जागरण कर रहे थे। पिता तो निद्रा के वशीभूत होकर सोगये किन्तु दयानन्द जागते रहे। वहाँ जो घटना घटी उसका वर्णन स्वयं स्वामी दयानन्द के ही शब्दों मे सुनिये:—

"जब मैं मन्दिर मे इस प्रकार अकेला जाग रहा था तो घटना उपस्थित हुई। कई चूहे बाहर निकल कर महादेव की पिण्डी के ऊपर दौड़ने लगे। और बीच बीच मे महादेव पर जो चावल चढाये गये थे उन्हे भक्षण करने लगे। मैं जागृत रह कर चूहों के इस कार्य को देखने लगा। देखते देखते मेरे मन मे आया कि ये क्या है? जिस महादेव की शान्त पवित्र मूर्ति की कथा, जिस महादेव के प्रचण्ड पाशुपतास्त्र की कथा, जिस महादेव के विशाल वृषारोहण की कथा गत दिवस व्रत के वृतान्त में सुनी थी, क्या वह महादेव वास्तव में यही है? इस प्रकार मैं चिन्ता से विचलित हो उठा।

मैंने सोचा कि यदि यथार्थ में यह वही प्रबल प्रतापी, दुर्दान्त दैत्यदलनकारी महादेव है तो यह अपने शरीर पर से इन थोड़े से चूहों को क्यों वितारित नहीं कर सकता? इस प्रकार बहुत देर तक चिन्ता-स्रोत में पड़कर मेरा मस्तिष्क घूमने लगा। मैं आप ही अपने से पूछने लगा कि जो चलते-फिरते हैं, खाते-पीते हैं, हाथ मे त्रिशूल धारण करते हैं, डमरू बजाते हैं, और मनुष्यों को शाप दे सकते हैं, क्या यह वही वृषारूढ़ देवता हैं जो मेरे सामने उपस्थित हैं?"

उपर्युक्त घटना ने इस बालक के मूर्तिपूजा के विश्वास को हिला दिया। उन्होंने अपने पिता को जगाकर उनसे इस शङ्का का समाधान चाहा। परन्तु संतोषजनक उत्तर न मिलने पर वह उसी समय घर लौट आये, और व्रत भङ्ग करके भोजन कर लिया। इस साधारण घटना का अन्त यहीं नहीं होगया, इसने सच्चे शिव को जानने और उसका साक्षात् करने की लालसा को दयानन्द मे जागृत कर दिया। और उन्होंने अपने समस्त जीवन को इसी खोज में लगा दिया।

एक दूसरी घटना ने उनमे महात्मा बुद्ध की भाँति वैराग्य की भावना उत्पन्न करदी, जिसने उन्हे संसार से ही विरक्त कर दिया। उनकी बहिन और चाचा की जिन्हें वह बहुत प्रेम करते थे मृत्यु होगई। दयानन्द कहते हैं:—"मैंने सोचा कि संसार की सभी वस्तुएं अस्थायी और चञ्चल हैं, तब ऐसी वस्तु कौन है जिसके लिये संसार में रह कर सांसारिक लोगों के समान जीवन यापन करूं" उन्होंने ऐसा ही किया, जब उनकी अवस्था २०-२१ वर्ष की थी ठीक उस समय जब उनके पिता उन्हे विवाह बन्धन में बाँधना चाहते थे, दयानन्द ने सदा के लिये गृह का परित्याग कर दिया, और अपने शेष

जीवन को विद्याभ्यास, योग साधन, समाज सुधार और परोपकार में लगा दिया। उन्होंने विद्वानों और योगियों की खोज में भारत के कोने कोने को छान डाला। जहाँ भी वह किसी योगी अथवा विद्वान् की उपस्थिति की सूचना पाते वह वहीं पहुँचते। इस अन्वेषण में उन्होंने भयायक वनों, पहाड़ों की कन्दराओं और हिमाच्छादित शिखरों की अनेक बार यात्रा की। लगभग १२, १३ वर्ष के तप और स्वाध्याय के पश्चात् दयानन्द का मथुरा के अद्वितीय विद्वान नेत्रहीन दण्डी स्वामी विरजानन्द से साक्षात् हुआ। विरजानन्द उस समय अपनी विद्या के लिये समस्त उत्तरी भारत में 'व्याकरण सूर्य' के नाम से प्रसिद्ध थे। जन्मान्ध होते हुए भी उनको अनेक शास्त्र कण्ठ थे। जिस श्लोक को एक बार सुन लेते थे उन्हें विस्मृत नहीं होता था। मथुरा में स्वामी विरजानन्द की एक संस्कृत पाठशाला थी, दयानन्द ने यहीं रहकर तीन वर्ष तक वेद-वेदाङ्ग तथा अनेक शास्त्रों का अध्ययन किया। और अन्त में दण्डी विरजानन्द से गुरुदीक्षा लेकर अपनी शिक्षा समाप्त की। दयानन्द की अवस्था उस समय लगभग ३६ की थी।

यदि दयानद का दण्डी विरजानंद से साक्षात् न होता तो सम्भव था कि वह अपने शेष जीवन को योगाभ्यास और तपश्चर्या में लगा देते। किन्तु इसने दयानंद के जीवनप्रवाह को ही बदल दिया। गुरुदक्षिणा में दयानन्द से दण्डी स्वामी ने यह एक विलक्षण प्रतिज्ञा चाही कि वह अपना समस्त जीवन आर्ष ग्रन्थों की महिमा स्थापित करने और अनार्ष ग्रंथों का खंडन करने में लगावें। विरजानन्द अनार्ष पौराणिक मतों के घोर विरोधी थे। किंतु चक्षुविहीन होने के कारण वेद-प्रतिपादित प्राचीन आर्य धर्म का प्रचार करने में स्वयं असमर्थ

थे। अब उन्हें दयानन्द के रूप में एक ऐसा शिष्य मिल गया जिसके द्वारा वह अपनी इच्छापूर्ति कर सकते थे। दयानन्द ने उनकी आज्ञा के सन्मुख अपना शिर झुका दिया और जीवन के अन्तिम क्षण तक उसे निभाया।

दयानन्द ने अपनी प्रगाढ़ विद्या और तपोबल से पंजाब से बम्बई तक और काठियावाड़ से बङ्गाल तक समस्त भारतवर्ष को हिला दिया। दयानन्द जहाँ कहीं गया उसने वहाँ के विद्वानों को वेदों से मूर्तिपूजा सिद्ध करने के लिये आह्वान किया। उसने घूम-घूम कर समस्त देश में सहस्रों व्याख्यान दिये और सैंकड़ों शास्त्र किये। दयानन्द की व्याख्यान शैली इतनी प्रभावोत्पादक और हृदयग्राही थी कि श्रोतागण मन्त्रमुग्ध हो जाते थे। उसका अकाट्य तर्क विपक्षी को नतमस्तक कर देता था। दयानन्द के तर्क और शास्त्रार्थ से घबराकर विरोधियों ने यहाँ तक कहना आरम्भ कर दिया कि दयानन्द को सिद्धि प्राप्त है। उसके सन्मुख जाकर कोई जय-लाभ नहीं कर सकता।

स्वामी दयानंद ने मूर्विपूजा पर अनेक शास्त्रार्थ किये और संस्कृत विद्या के गढ़ काशी को अपने विद्या बल और वाग्मिता से अनेक बार हिला दिया। विपक्षी या तो सन्मुख ही नहीं आते थे और यदि आते थे तो परास्त होकर शास्त्रार्थ को तिलांजलि दे उद्दण्डता और असभ्य व्यवहार पर उतारू हो जाते थे। किन्तु ऐसे भी अनेक अवसर आये जब सत्यान्वेपी विपक्षी ने अपनी पराजय स्वीकार करली।

एक बार एक विद्वान् पण्डित ने यह प्रतिज्ञा करके स्वामी दयानंद से मूर्तिपूजा पर शास्त्रार्थ किया कि या तो वह

दयानंद को परास्त करके उनके हाथों अपनी मूर्ति को भोग लगवा देगा या स्वयं पराजित होकर उनका मत ग्रहण कर लेगा। कई दिन तक शास्त्रार्थ होता रहा। अंत में पण्डित ने अपनी पराजय स्वीकार करली और मूर्तियों को गङ्गा में वहा दिया। स्वामी दयानद के मूर्तिपूजा-खण्डन से प्रभावित होकर अनेक स्थानों पर लोगों ने अपनी अपनी देव मूर्तियों को गङ्गा में प्रवाहित कर दिया। स्वामी दयानंद को अनेक प्रलोभन दिये गये कि यदि वह मूर्तिपूजा का खण्डन न करें तो उनको अमुक मठ की गद्दी दे दी जायगी अथवा उनको समस्त हिन्दू जनता अपना सर्वमान्य नेता स्वीकार कर लेगी। किंतु उनका सदा यही उत्तर रहा कि, "मैं तुम्हारी इच्छा-पूर्ति करूँ अथवा ईश्वरीय आज्ञा का पालन ?" उन पर अनेक वार आक्रमण किये गये, कई वार विष दिया गया, वहुत प्रकार की धमकियाँ दी गईं किंतु उन्होंने मूर्ति-पूजा के खंडन में कोई समझौता नहीं किया। पादरी के० जे० लूकस ने जिसने स्वामी दयानद के व्याख्यान सन् १८७७ ई० में फरुखावाद में सुने थे और उन से भेंट भी की थी, वतलाया कि "वह मूर्ति-पूजा के विरुद्ध इतने वल, इतने स्पष्ट और विश्वास के साथ वोलते थे कि मुझे फरुखावाद की जनता की ओर से उनका हार्दिक स्वागत किये जाने पर आश्चर्य हुआ। मुझे उनका यह कथन स्मरण है कि जब मैंने उनसे कहा कि यदि आपको तोप के मुँह पर रख कर आपसे कहा जाय कि यदि तुम मूर्ति को मस्तक न झुकाओगे तो तुमको तोप से उड़ा दिया जायगा, तो आप क्या कहेंगे ? स्वामी ने उत्तर दिया था कि मैं कहूँगा कि उड़ा दो।" दयानंद इतने निर्भीक थे कि अनेकों मन्दिरों में ठहरते हुए

भी वह वहीं मूर्तिपूजा की कड़ी आलोचना करते थे।

स्वामी दयानंद का निश्चित मत था कि मूर्तिपूजा आर्य जाति की समस्त त्रुटियों का केन्द्र है और वह कभी वेद शास्त्र प्रतिपादित नहीं है। अपने अमर ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में उन्होंने मूर्तिपूजा पर अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं :—

(१) जब परमेश्वर सर्वत्र व्यापक है तो किसी एक वस्तु में परमेश्वर की भावना करना, अन्यत्र न करना, यह एक ऐसी बात है कि जैसे चक्रवर्ती राजा को एक राज्य की सत्ता से छुड़ा कर एक छोटी सी झोंपड़ी का स्वामी मानना। देखो ! यह एक कितना बड़ा अपमान है, वैसा तुम परमेश्वर का भी अपमान करते हो।

(२) जब व्यापक मानते हो, तो वाटिका से पुष्प-पत्र तोड़ कर क्यों चढ़ाते हो ? चंदन घिसकर क्यों लगाते हो ? धूप को जलाकर क्यों देते हो? घंटा, घड़ियाल, झॉंज, पखावजों को लकड़ी से कूटना-पीटना क्यों करते हो ? वह तुम्हारे शिर में है उसे क्यों नमाते हो ? अन्न जलादि में है फिर क्यों नैवेद्य धरते हो ? जल में है, स्नान क्यों कराते हो ? क्योंकि सब पदार्थों में परमात्मा व्यापक है और तुम व्यापक की उपासना करते हो या व्याप्य की, जो व्यापक की करते हो तो पाषाण, लकड़ी आदि पर चंदन पुष्पादि क्यों चढ़ाते हो, और व्याप्य की करते हो तो, "हम ईश्वर की पूजा करते हैं", ऐसा झूठ क्यों बोलते हो ? "हम पाषाण के पुजारी हैं," ऐसा सत्य क्यों नहीं बोलते ?

(सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ११)।

एक दूसरे स्थल पर मूर्तिपूजा के दोषों को उन्होंने निम्न प्रकार गिनाया है :—

(१) साकार मे मन स्थिर कभी नहीं हो सकता, क्योंकि उसको मन झट ग्रहण करके उसी के एक-एक अवयव में घूमता और दूसरे मे दौड़ जाता है। और निराकार परमात्मा के ग्रहण में यावत् सामर्थ्य मन अत्यन्त दौड़ता है तो भी अन्त नहीं पाता। निरवयव होने से चंचल भी नहीं रहता, किन्तु उसी गुण कर्म स्वभाव का विचार करता-करता, आनन्द में मग्न होकर स्थिर होजाता है, और साकार में होता तो सब जगत् का मन स्थिर हो जाता क्योंकि, जगत् मे मनुष्य, स्त्री, पुत्र, धन, मित्र आदि साकार में फँसा रहता है, परन्तु किसी मे मन स्थिर नहीं होता जब तक निराकार में न लगावें, क्योंकि निरवयव होने से उसमे मन स्थिर हो जाता है। इसलिए मूर्तिपूजा करना अधर्म है (२) उसमें करोड़ों रुपये मन्दिरों में व्यय करके दरिद्र होते हैं और उसमें प्रमाद होता है। (३) स्त्री-पुरुषों का मन्दिरों में मेला होने से व्यभिचार, लडाई-बखेड़ा और रोगादि उत्पन्न होते हैं। (४) उसी को धर्म, अर्थ, काम और मुक्ति का साधन मानकर पुरुषार्थ रहित होकर मनुष्य जन्म व्यर्थ गमाता है। (५) नाना प्रकार की विरुद्ध स्वरूप नाम चरित्र युक्त मूर्तियों के पुजारियों का ऐक्यमत नष्ट होकर विरुद्ध मत में चलकर आपस मे फूट बढ़ा कर देश का नाश करते हैं (६) उसी के भरोसे मे शत्रु का पराजय और अपना विजय मान बैठे रहते हैं। उनका पराजय होकर राज्य स्वातंत्र्य और धन का सुख उनके शत्रुओं के स्वाधीन होता है और आप पराधीन भटियारे के टट्टू और कुम्हार के गदहे के समान शत्रुओं के वश में होकर अनेक विध दुःख पाते हैं। (७) जब कोई किसी को कहे कि हम तेरे बैठने के आसन व नाम पर पत्थर धरें तो जैसे वह उस पर क्रोधित होकर मारता वा गाली

देता है, वैसे ही जो परमेश्वर के उपासना के स्थान, हृदय और नाम पर पापाणादि मूर्तियां धरते है, उन दुष्ट बुद्धि वालों का सत्यानाश परमेश्वर क्यों न करे । (८) भ्रान्त होकर मन्दिर मन्दिर देश देशान्तर में घूमते-घूमते दुःख पाते, धर्म संसार और परमार्थ का काम नष्ट करते, चोरादि से पीड़ित होते, ठगों से ठगाते रहते हैं । (९) दुष्ट पुजारियों को धन देते हैं वे उस धन को वेश्या, परस्त्री गमन, मद्य, मांसाहार, लड़ाई-बखेड़ों में व्यय करते हैं जिससे दाता का सुख का मूल नष्ट होकर दुःख होता है । (१०) माता-पिता आदि माननीयों का अपमान कर पापाणादि मूर्तियों का मान करके कृतघ्न हो जाते हैं (११) उन मूर्तियों को कोई तोड डालता वा चोर ले जाता है तव हा हा करके रोते रहते हैं । (१२) पुजारी परस्त्री के संग और पुजारिन पर पुरुषों के संग से प्रायः दूपित होकर स्त्री पुरुप के प्रेम के आनन्द को हाथ से खो वैठते हैं । (१३) स्वामी सेवक की आज्ञापालन यथावत् न होने से परस्पर विरुद्धभाव होकर नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं । (१४) जड़ का ध्यान करने वाले का आत्मा भी जड़-बुद्धि हो जाता है क्योंकि ध्येय का जडत्व धर्म अन्तःकरण द्वारा आत्मा में अवश्य आता है। (१५) परमेश्वर ने सुगन्धियुक्त पुष्पादि पदार्थ वायु जल के दुर्गन्ध निवारण और आरोग्यता के लिए बनायें हैं, उनको पुजारी जी तोड़ तोड़ कर, न जाने उन पुष्पों की कितने दिन तक सुगन्धि आकाश में चढ़कर वायु जल की शुद्धि करता है और पूर्ण सुगन्धि के समय तक उसका सुगन्ध होता उसका नाश मध्य में ही कर देते हैं । पुष्पादि कीच के साथ मिल सड़कर उलटा दुर्गन्ध उत्पन्न करते हैं । क्या परमात्मा ने पत्थर पर चढ़ाने के लिए पुष्पादि सुगन्धयुक्त पदार्थ रचे हैं (१६) पत्थर पर चढ़े हुए पुष्प चंदन और अक्षत आदि सवका जल और

मृत्तिका के संयोग होने से मोरी वा कुंड में आकर सड़के इतना उस से दुर्गन्ध आकाश में चढता है कि जितना मनुष्य के मल का और सहस्रों जीव उसमें पड़ते उसी में मरते और सड़ते हैं। ऐसे ऐसे अनेक मूर्तिपूजा के करने में दोष आते हैं। इसलिये सर्वथा पाषाणादि की मूर्तिपूजा सज्जन लोगों को त्यक्तव्य है। और जिन्होंने पाषाणमय मूर्ति की पूजा की है करते हैं, और करेंगे, वे पूर्वोक्त दोषों से न बचे, न बचते हैं और न बचेंगे।

सम्भव है कि उपर्युक्त सूची को देखकर कुछ पाठक स्वामी दयानन्द पर अत्युक्ति का दोषारोपण करें। परन्तु जिन्हें बड़े बड़े तीर्थ स्थानों और उनके देव मन्दिरों की आंतरिक अवस्था का परिज्ञान है, वे ऐसा कभी न करेंगे। स्वामी दयानन्द ने इस देश के मठ मन्दिरों की आंतरिक अवस्था को अपनी आंखों देखा था, अतः मूर्तिपूजा से होने वाली जिन हानियों को उन्होंने यहाँ गिनाया है उनमें कोई अत्युक्ति नहीं है। स्वामी जी ने मूर्तिपूजा के विरुद्ध इतना कहा और लिखा है कि यदि हम उनका संग्रह करने लगें तो एक स्वतंत्र ग्रन्थ की रचना हो सकती है, इसलिये हम विस्तार भय से अधिक उद्धरण न देकर पाठकों से प्रार्थना करेंगे कि जो इस सम्बन्ध में जानना चाहें वे स्वामी दयानन्द द्वारा स्वरचित ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश,' 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका' में देखें; उनके अनेक जीवन वृतान्तों से भी इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश मिल सकता है।

इस देश में स्वामी दयानन्द से पूर्व किसी भी आचार्य ने मूर्तिपूजा के विरुद्ध इतने खुले ढंग से कभी आन्दोलन नहीं किया। और न उससे होने वाली हानियों को इतने स्पष्ट रूप में सर्वसाधारण के सन्मुख रखने का प्रयत्न किया। शंकर और

उनके पश्चात् अनेक सन्त महात्माओं ने भी मूर्तिपूजा का खंडन किया किंतु उनमें वह बल और निर्भीकता न थी जिसे हम स्वामी दयानन्द मे देखते हैं। सम्भवतः इन्होंने मूर्तिपूजा के विनाशकारी परिणामों पर भली भांति दृष्टिपात नहीं किया और उसे केवल एक पूजा-भेद समझ कर पाप नहीं समझा। परिणाम-स्वरूप उनके स्वर्गारोहण के पश्चात् उनके अनुगामियों ने या तो मूर्तिपूजा से समझौता कर लिया या स्वयं उसे किसी न किसी रूप में अपना लिया।

अशिक्षित हिन्दू आज भी मूर्तिपूजा के उसी प्रपंच में उलझा हुआ है। सुशिक्षित समाज उससे उदासीन है। उनकी दृष्टि में यदि कोई मूर्तिपूजा करता है तो कोई हानि नहीं, यदि नहीं करता तो कोई पाप नहीं। यदि किसी मंदिर में पहुँच गये अथवा उसके द्वार पर होकर निकले तो मूर्ति को शिर झुका दिया। अन्यथा मूर्तिपूजा से इनका न कोई विशेष सम्पर्क है और न उसमें इनको कोई विशेष आस्था है। यदि किसी मूर्तिपूजक ने मूर्ति को ईश्वर के ध्यान का एक साधन सिद्ध करना चाहा तो उसकी हॉ मे हॉ मिलादी और किसी ने उसके विरुद्ध कुछ कहा तो उसे भी स्वीकार कर लिया।

'धर्म किसी जाति वा देश के उत्थान पतन का प्रधान कारण है' यह एक सार्वभौम सिद्धांत है जिसे आज या कल सभी को मानना पडेगा। जो लोग पश्चिमी सभ्यता के भौतिक प्रवाह में वह जा रहे हैं, वे भूलते हैं। धार्मिक उत्थान के कारण ही यह देश संसार का शिरमौर था और धार्मिक पतन ने ही आज इसको अधोगति के गर्त में ला डाला है।

स्वामी दयानन्द आर्यजाति को इस अधोगति से बाहर निकालना चाहते थे। मूर्तिपूजा, आर्य जाति के पतन का एक मूल कारण है, इस तत्व को स्वामी दयानन्द ने भली प्रकार

समझ लिया था। शिवरात्रि का बोध मानो यह सिद्ध करता है कि उनका जन्म ही मूर्तिपूजा के विरुद्ध प्रचार करने के लिये हुआ था। संसार का प्रत्येक महापुरुष अपना एक विशेष संदेश रखता है। स्वामी दयानंद का, हमारे विचार में यही एक संदेश था।

स्वामी दयानन्द द्वारा स्थापित आर्य समाज, इस समय हमारे देश में एक ऐसी जीवित जागृत संस्था है जो मूर्तिपूजा के विरुद्ध प्रशंसनीय कार्य करती रही है। किंतु उसमें भी कुछ समय से साम्प्रदायिक सहिष्णुता तथा राष्ट्रिय एकता के नाम पर खण्डनात्मक प्रवृति को रोकने की भावना बढती जा रही है। मूर्तिपूजा के विरुद्ध अब उसकी वेदी से कुछ अधिक नहीं कहा जाता। उधर मूर्तिपूजा-पोषक प्रगति अभी अपना कार्य कर ही रही है। ऐसी अवस्था में आर्यसमाज की शिथिल मनोवृत्ति देश और जाति के लिये घातक ही सिद्ध होगी। यदि सहिष्णुता के नाम पर समझौता करने की भूल की गई तो आर्यसमाज भी अन्य सम्प्रदायों की भांति "हिन्दू धर्म" कही जाने वाली अस्त-व्यस्त विचारधारा में सदा के लिये विलीन हो जायगा।

महात्मा गाधी इस युग के एक अन्य महापुरुष हैं। उनका कार्यक्षेत्र मुख्यत. इस देश की राजनीति रहा, परन्तु फिर भी वह समय-समय पर अपने धार्मिक विचार व्यक्त करते रहते थे। इस देश के अनेक संत-महात्माओं के विचारों से महात्मा जी के विचार बहुत कुछ प्रभावित थे और ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें प्राचीन वैदिक साहित्य के अध्ययन का विशेष अवसर नहीं मिला। उनको अपना संस्कृत भाषा का अल्पज्ञान सदा खटकता रहा, इस तथ्य का उन्होंने अपनी आत्मकथा में दुःख के साथ उल्लेख किया है। सम्भवत इसी कारण उनके धार्मिक विचार प्राय. अनिश्चित और अस्थिर थे।

महात्मा गांधी की विचार-धारा बहुत से संतों की भांति, "सब ही धर्म ईश्वर-प्राप्ति के साधन हैं और ठीक हैं" रही। अतएव उन्होंने कभी किसी विवादास्पद धार्मिक विषय पर अपनी निर्भीक सम्मति नहीं दी। इस विचार धारा का अनुयायी दे भी नहीं सकता। इस विचार ने हिन्दू-जाति के जीवन पर एक घातक प्रभाव डाला है। जब संसार के साधारण धर्म अपने प्रचार की प्रगति से महान् शक्तिशाली बन गये, हिंदू धर्म (वैदिक धर्म) केवल कूपमंडूक ही रहा और वह अपने अमर संदेश को दूसरे देशों तक न पहुँचा सका। बौद्धकाल तक यहाँ के प्रचारक अपने धर्म, संस्कृति और सभ्यता की दुन्दुभी विश्व में बजाते रहे। उन्होंने विश्व को आर्य बनाने की वैदिक लोकोक्ति को नहीं भुलाया था।

महात्मा जी स्वयं मूर्तिपूजक नहीं थे और न उनका उस पर विश्वास था, परंतु वह उसे पाप नहीं समझते थे। जैसा कि हम पूर्व लिख चुके हैं, उनके धार्मिक विचार अस्थिर थे और समय समय पर बदलते भी रहते थे। इसे उन्होंने अपने वक्तव्यों और लेखों में स्वय स्वीकार किया हैं। मूर्तिपूजा पर उन्होंने अपनी जो अन्तिम सम्मति प्रकट की है, हम अधिक न लिखकर उसे ही लिख देना पर्याप्त समझते हैं। वह लिखते हैं :—

"एक भाई ने मुझे अखबार की एक कतरन भेजी है। उसमें खबर है कि मेरे नाम का एक मदिर बनवाया गया है। और उसमें मेरी मूर्ति की पूजा की जाती है। इसे मैं मूर्तिपूजा का बेढङ्गा रूप समझता हूँ। जिसने यह मंदिर बनवाया है, उसने अपने पैसे बरबाद किये हैं, गांव के भोले लोगों को गलत रास्ता दिखाया, और मेरे जीवन का गलत खाका खींच कर मेरा अपमान किया। इससे मूर्तिपूजा का अर्थ सिद्ध नहीं होता, उलटे अनर्थ होता है। अपने गुजारे के लिये या स्वराज्य के लिए यज्ञ

के रूप में कातना ही मेरे विचार से सच्ची पूजा है। तोते की तरह गीता के पारायण करने के बदले उसके उपदेशानुसार आचरण करना सच्ची गीता-पूजा है। गीतापाठ भी उसी हद तक मुनासिब समझा जायगा जिस हद तक वह गीता के उपदेश के अनुसार आचरण करने में मददगार हो। मनुष्य की कमजोरी का नहीं, बल्कि उसके गुणों का अनुकरण ही उसकी सच्ची पूजा है जिन्दा आदमी की मूर्ति बनाकर उसकी पूजा करने से हम हिंदू धर्म को पतन की आखिरी सीमा तक पहुँचा देते हैं। ..सच तो यह है कि अकेला ईश्वर ही मनुष्य के हृदय को जानता है। इसलिये किसी जिंदा या मरे हुए आदमी को पूजने के बदले, जो पूर्ण है और सत्य स्वरूप है, उस ईश्वर को पूजने और उसी का भजन करने में सुरक्षितता है। यहाँ यह ख्याल जरूर उठ सकता है कि फोटो रखना भी पूजा का एक प्रकार है या नहीं? फोटो रखने का रिवाज भी खर्चीला तो है मगर उसे निर्दोष समझकर मैं उसको अब तक बरदाश्त करता आया हूँ। अगर उसकी वजह से मैं प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष रीति से मूर्तिपूजा को तनिक भी बढ़ावा देता हूँ तो उसे हास्यास्पद और हानिकारक समझकर छोड़ दूँगा। मंदिर के मालिक मूर्ति को हटाकर उस मकान में खादी का केन्द्र खोलें तो वह सब तरह इष्ट होगा और फिलहाल जो पाप यह कर रहे हैं उससे बच जायेंगे। उस मकान में गरीब लोग मजदूरी के लिए धुनें और कातें, दूसरे यज्ञ के लिये धुनें और कातें। सब खादी पहिनने लगें। यही गीता का कर्मयोग है। जीवन में इसका आचरण करने से गीता की और मेरी सच्ची पूजा की जा सकेगी। ऐसी पूजा हानिकारक है और इसलिए छोड़ने लायक है।"

महात्मा जी योरुप के अनेक विचारकों की भांति रामायण और महाभारत को ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं मानते थे तथा राम

और कृष्ण के व्यक्तिविशेष होने पर भी उनका विश्वास नहीं था। अवतारवाद पर जो विचार उन्होंने व्यक्त किए हैं उन्हें यहां दे देना असंगत न होगा। महात्मा जी ने अपने गीता-भाष्य में लिखा है:—

"गीता के कृष्ण मूर्तिमान् शुद्ध सम्पूर्ण ज्ञान हैं परन्तु काल्पनिक हैं"। "जो पुरुष अपने युगमें सबसे श्रेष्ठ धर्मवान् होता है, उसी को भावी प्रजा अवतार रूप से पूजती है।" इसी प्रकार वह अन्यत्र लिखते हैं—"ईश्वर निश्चित रूप से एक है, वह अद्वितीय है। वह अथाह और अगोचर है। मनुष्यों का अधिक भाग उसको नहीं जान सका। वह सर्वव्यापक है, नेत्रों के विना देखता और कानों के विना सुनता है। निराकार, निरवयव है। वह अजन्मा है। उसका कोई पिता, माता या पुत्र नहीं है, तो भी लोग उसे पिता, माता, स्त्री और पुत्र बनाकर पूजते हैं। तथापि वह उनमें से कोई वस्तु नहीं है।"

(यंग इण्डिया, २५ सितम्बर सन् १९२४ ई०)

"हम राम के गुण गाते हैं, वह वाल्मीकि के राम नहीं। तुलसी–रामायण के भी राम नहीं हैं। ..असह्य दुःख से दुखी मनुष्य से मैं कहता हूँ कि राम नाम लो ..लेकिन यह राम तो दशरथ के पुत्र, सीता के पति नहीं; यह तो देहधारी राम नहीं हो सकते। जो हमारे हृदय में बसते हैं, वह राम देहधारी नहीं हो सकते।" (प्रताप, लाहौर, १० अप्रेल सन् १९२८)

यह सब कुछ मानते हुए भी, उन्हें अपनी प्रार्थनाओं में, "रघुपति राघव राजा राम, पतित पावन सीताराम" का कीर्तन करने में विशेष आनन्द आता था। राम के साथ 'रघुपति', 'राघव' 'सीता' आदि विशेषणों की सङ्गति लगाना विचारशील पुरुषों के लिए एक पहेली ही बनी हुई है। जनसाधारण आज भी उनके राम को रामायण का ही राम समझता है। महात्मा गांधी

का बाल्यकाल से तुलसीकृत रामायण का पठन पाठन रहा और उनके वही संस्कार कभी-कभी बुद्धि-बाह्य होने पर भी अटल रहे।

मूर्तिपूजा का किस प्रकार प्रादुर्भाव हुआ, यदि आप इसका तात्कालिक उदाहरण देखना चाहते हैं तो देहली स्थित राजघाट में महात्मा गाधी की समाधि को जाकर देखें। महात्माजी की समाधि पर, जहा उनकी कुछ अस्थियों के ऊपर एक चौकोन चबूतरा बना दिया गया है, नित्य पुष्प, पुष्पमालायें और रुपये पैसे चढ़ाए जाते हैं। इस समाधि के एक ओर उससे लगा हुआ महात्मा जी का ताम्रचित्र रक्खा है, जिस पर, समाधि की भाति पुष्प, रुपये-पैसे ठीक उसी प्रकार चढ़ाए जाते हैं, जैसे लोग मूर्तियों पर चढ़ाते हैं। समाधि और ताम्रचित्र के सन्मुख लोग न केवल हाथ जोड़कर शिर झुकाते हैं अपितु आप उन्हें साष्टांग दंडवत् करते हुए भी देखेंगे। वहां मन्दिरों की भाति एक पुजारी भी रहता है जो चित्र के फूलों से ढक जाने पर उन्हें उसके ऊपर से हटाकर दूसरे दर्शकों को मूकभाव से फूल चढ़ाने के लिए आह्वान करता रहता है। गांधी जयन्ती पर तो गांधीजी की एक विशाल कार्य मूर्ति तक उस समाधि पर रखदी जाती है, और उसकी भी उसी प्रकार पूजा की जाती है। स्थान स्थान पर ऐसी ही समाधि, मूर्ति, एवं मन्दिरों की स्थापना हो रही है। और यह असम्भव नहीं है कि गांधी जी की महात्मा बुद्ध की भांति, उनकी सुस्पष्ट आज्ञा और इच्छा के विरुद्ध, कहीं मूर्तिपूजा न चल पड़े। हमारे देश के बड़े बड़े गांधी-भक्त नेता आज इसे रोकने के स्थान पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रोत्साहन देरहे हैं। वे समझते हैं कि इससे गांधी जी के प्रति लोगों की भक्ति भावना जागृत होगी और लोग उनका अनुकरण करेंगे, किन्तु मूर्तिपूजा का इतिहास बताता है कि उनकी यह धारणा दुराशामात्र ही रहेगी।

मूर्तिपूजा का मानव जीवन पर प्रभाव

'जीवन' आत्मा और शरीर के संयोग का नाम है। अतः मनुष्य जीवन की उन्नति वा अवनति इन्हीं दोनों की उन्नति वा अवनति पर निर्भर है। मूर्ति-पूजा इसमें कहाँ तक साधक वा बाधक है, यही हमें यहाँ विचार करना है।

ईश्वरोपासना आत्म-उन्नति का सर्वमान्य साधन समझा जाता है। जब आत्मा अपनी वृत्तियों को वाह्य जगत से हटा, अन्तर्मुख हो ईश्वरचिन्तन में लवलीन होता है तो हम उसी सामीप्य को उपासना कहते हैं। इसी उपासना द्वारा जीवात्मा अपने मलविक्षेप को दूर कर ईश्वरीय गुण धारण करता है। परन्तु यदि हम ईश्वर के स्थान पर जड़ जगत् अथवा जड़मूर्ति का सामीप्य ग्रहण करते हैं, तो स्वभावतः उन्हीं के गुण हम में आते हैं। जैसी हमारी संगति होगी वैसे ही हम बनेंगे। यह एक प्रसिद्ध कहावत है। परन्तु मूर्ति में न तो ईश्वरीय गुण हैं और न वह उसकी आकृति है। अतः वह ईश्वर प्राप्ति का माध्यम भी नहीं हो सकती। चेतन जीव जड़मूर्ति से प्राप्त ही क्या कर सकता है? उसे तो अपने से किसी बड़ी सत्ता की आवश्यकता है जिससे कुछ प्राप्त कर सके। यह कहा जा सकता है कि मूर्ति ईश्वर की न सही उसके अवतार की तो है! ईश्वर न अवतार धारण करता है और न उसे उसकी आवश्यकता है, यह हम पूर्व ही सिद्ध कर चुके हैं। ईश्वर-अवतार

सिद्ध करना ईश्वर को पदच्युत करके उसे जीव की कोटि में रख देना है। यूनान के एक दार्शनिक जेनोफेनीज ने ऐसे लोगों की मनोवृत्ति का निम्न शब्दों मे वर्णन किया है :—

"Negroes imagine them as black with flattened noses, the Thracians with blue eyes and red hairs, if oxen and horses could paint, they would represent their gods as horses and oxen" (The Problems of Philosphy by Janet and Seailles p 249)

अर्थात् "नीग्रो लोग अपने देवताओं को काला और चपटी नाक वाला समझते हैं और थ्रेस निवासी उन्हे नीली आँख और लाल केशों वाला। यदि बैल और घोडे भी चित्रकारी जानते तो वे अपने देवताओं को बैल और घोड़े की आकृति वाला ही बनाते।" ठीक यही अवस्था इन अवतारवादियों की है। इस यूनानी दार्शनिक को कदाचित् यह पता नहीं था कि भारतीय पुराण कर्त्ताओं ने हयग्रीव (घोड़े के शिर वाला)नर सिंह (सिंह के शिर वाला) सूकर, कच्छ और मच्छ के ईश्वर अवतार की सृष्टि करके उसकी कल्पना की मनुष्य द्वारा ही पूर्ति करा दी है।

मूर्तिपूजा यदि वीरपूजा (hero-worship) के रूप तक ही सीमित रही होती तो इससे मनुष्य जाति का इतना अकल्याण न हुआ होता। अपने महान् पूर्वजों का गुणगान तथा उनका चित्र अथवा मूर्ति-निर्माण कोई बुरा कार्य नहीं है। किन्तु उसकी उपादेयता उसी समय तक ही है जब हम उनके जीवन को उनके ही पदचिह्नों पर चल कर अपना आदर्श बना लें। उनके चित्र अथवा मूर्ति तब ही हमारे जीवन में स्फूर्ति पैदा कर सकती हैं। परन्तु उन्हें ईश्वर मानकर प्राण प्रतिष्ठा द्वारा चेतन

सत्ता समझ लेना और स्तुति प्रार्थना द्वारा उनसे रक्षा अथवा सहायता की आशा रखना अज्ञान और मूर्खता की पराकाष्ठा है। हिन्दुओं की प्रचलित मूर्तिपूजा-विधि यह निर्विवाद रूप से सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है कि वे मूर्तियों को एक चेतन सत्ता समझते हैं। मन्दिरों में मूर्ति स्थापित करते समय प्राण प्रतिष्ठा की परि-क्रिया भी हमें इसी परिणाम पर पहुँचाती है। परिणाम स्वरूप हिन्दुओं का यह विश्वास रहा है कि मूर्तियाँ उनकी रक्षा और सहायता करने की जहाँ सामर्थ्य रखती हैं वहाँ उनका अनिष्ट भी कर सकती हैं। इस प्रकार हिन्दुओं की मूर्तियों ने सर्वांश में 'ईश्वर' का स्थान ग्रहण कर लिया था। आज भी चाहे शिक्षित समुदाय इस प्रकार का विश्वास न रखता हो, किन्तु हिन्दुओं की निम्न श्रेणी का यही विश्वास है और यही भावना है। यह युक्ति कि हम मूर्ति द्वारा अदृश्य परमात्मा का चिन्तन करते हैं या वह हमारी धारणा वा ध्यान का एक साधन है सर्वथा कपोल कल्पित है और यह युक्ति मूर्तिपूजा के विरुद्ध आक्षेप से बच निकलने के लिये घड़ ली गई है।

उपर्युक्त विश्वास ने हिन्दू जाति का कितना अनिष्ट किया है, उसका वर्णन लेखनी की शक्ति से बाहर है। मुस्लिम काल के एक हज़ार वर्ष की हमारी दुर्दशा और निरुपाय पराधीनता इसी विश्वास के कुपरिणाम हैं। जब तक हिन्दू जाति के अन्दर यह विश्वास है, हमारा दृढ़ निश्चय है कि वह किसी भी प्रकार की मुक्ति, चाहे वह राष्ट्रिय हो, चाहे सामाजिक अथवा धार्मिक, प्राप्त नहीं कर सकती। जो लोग राष्ट्र निर्माण में धार्मिक विश्वासों को कोई स्थान नहीं देते वे भूल करते हैं। धार्मिक विश्वास ही हमारा व्यक्तिगत जीवन निर्माण करता है। सामूहिक व्यक्तिगत जीवन ही किसी समाज को ऊँचा उठाता

है और अन्त में समाज ही राष्ट्र का निर्माण करता है। अतः धार्मिक विश्वासा की अवहेलना करके राष्ट्र निमोण का सुखद स्वप्न देखना बुद्धिमत्ता नहीं है

धार्मिक विश्वास ने अरब, तुर्क, मुगल जैसी मूर्तिपूजक वर्वर जातियों का थोड़ से समय मे एक झंडे के नीचे लाकर सुसङ्गठित कर दिया। धार्मिक विश्वास ने ही इस आर्य जाति को, जो आज भी संसार में अपने ब्रह्मवाद के लिये प्रसिद्ध है, विभिन्न संप्रदायों जातियों और उपजातियों में विभाजित करके वर्तमान दुरवस्था में परिवर्तित कर दिया है। राजा दाहिर की पराजय इसी विश्वास का तो फल था। महमूद गजनवी द्वारा सोमनाथ की लूट भी उसीका दुष्परिणाम था। राजपूत सैनिकों का विश्वास था कि सोमनाथ उनकी रक्षा करेंगे, परंतु जैसे ही मन्दिर विध्वंस हुआ, उन्होंने अपनी पराजय निश्चित समझ ली और अपना सारा साहस खो बैठे। जिसका ईश्वर ही पराजित होगया फिर उसके भक्तों की रक्षा कैसे संभव थी? इस पर कोका जैसे देशद्रोही भविष्यवक्ता उनका रहा सहा साहस नष्ट करने वाले ज्योतिषियों की यहाँ कमी नहीं थी मुहम्मदगौरी, तैमूर, नादिरशाह के इस देश पर निरतर आक्रमणों की तह में यही विश्वास कार्य कर रहा था। सृष्टि का यह नियम है कि चिऊँटी जैसा क्षुद्र जीव भी प्रतिक्रिया करता है। हिन्दू लाखों की संख्या मे दास बनाकर दूर देशस्थ गजनी आदि स्थानों में भेड़ बकरी की भाति ले जाये गए। तैमूर के एक सैनिक के पास इतने हिन्दू बन्दी थे कि उनका प्रबन्ध असम्भव हो गया। खाने की सामग्री के अभाव में उन्हें गाजर-मूली की भाति टुकड़े-टुकड़े कर दिया गया। परन्तु वे इतनी बड़ी संख्या में होते हुए भी कुछ न कर सके। क्या इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उनकी मानसिक अवस्था कीड़े-मकोड़ों से भी गई बीती थी।

हम इन दुःखद गाथाओं की, जिनका इस पुस्तक में यथास्थान वर्णन हो चुका है, पुनरावृत्ति नहीं करना चाहते। हम केवल इससे इतना ही सिद्ध करना चाहते हैं कि किसी जाति के उत्थान-पतन मे उसका धार्मिक विश्वास एक सक्रिय कारण होता है, जिसे अदृष्टिगोचर नहीं किया जा सकता।

इस सृष्टि में हम देखते हैं कि प्रत्येक मनुष्य का स्वभाव अपने कार्य और भोगानुसार एक दूसरे से किसी न किसी अंश में भिन्न होता है। इस विभिन्नता का सङ्गतिकरण करने के लिए किसी समाज में कुछ नियमो की आवश्यकता होती है। इन्हीं नियमों का दूसरा नाम धर्म है। इसी प्रकार मनुष्य-समाज को एक सूत्र में बॉधने के लिए एकेश्वर का सिद्धांत भी उतना महत्वपूर्ण है जितना कि धर्म, किंतु जब मनुष्य अपनी उच्छृंखलता से अपने-अपने स्वभाव अथवा रुचि के अनुसार अनेक ईश्वरों, देवताओं एवं संप्रदायों और धर्म ग्रंथों की सृष्टि करने लगता है तो मनुष्य समाज अनेक भागों में विभाजित होकर सांसारिक कलह का कारण बन जाता है। संसार के इतिहास में ईश्वर और धर्म के नाम पर होने वाले अन्याय और अत्याचार इसके साक्षी हैं। कदाचित् आज का ईश्वर और धर्म विरोधी जनसमाज इसी साम्प्रदायिक कलह का कुपरिणाम है। कापालिकों ने अपने अनुरूप 'शिव' की कल्पना करली। मांस-मदिरा प्रेमियों ने अपनी रुचि के अनुसार 'शक्ति' की सृष्टि कर डाली। रसिकस्वभाव लोगों ने विष्णु और उसके पूर्णावतार कृष्ण को जन्म दिया। प्रत्येक ने अपने अपने उपास्यदेव की प्रशंसा में अनेक ग्रन्थों की—जो पुराणों के नाम से विख्यात हैं—रचना करली। उनकी मूर्ति-रचना भी उनकी रुचि के अनुकूल ही है। शैवों का शिव लिङ्ग, शाक्तों की विकराल रूप काली, और वैष्णवों का रसिक राधावल्लभ कृष्ण

उन-उन सम्प्रदायों की प्रतिच्छाया है। उपर्युक्त देवमूर्तियों का उनके उपासकों के चरित्र पर क्या प्रभाव पड़ेगा—ये हम पाठकों के ही निर्णय पर छोड़ते हैं। यह केवल अब अनुमान की वस्तु ही नहीं रह गई किन्तु इन सम्प्रदायवादियों के चरित्र पर उनकी प्रत्यक्ष छाप देखी जाती है।

किसी चित्र या मूर्ति को देखकर हम पर दो ही प्रभाव पड़ सकते हैं। प्रथम उस व्यक्ति की स्मृति, जिसकी कि वह मूर्ति है। परन्तु यह तभी सम्भव है जब हमारा उस व्यक्ति के जीवन से परिचय हो। यदि वह सद्‌गुणसम्पन्न था, अथवा है, तो उसके प्रति हमारी श्रद्धा और प्रेम के भाव जागृत हो सकते हैं। यदि वह दुष्टस्वभाव है, तो घृणा और द्वेष के भाव उत्पन्न होंगे। दूसरा प्रभाव, मूर्ति की सुन्दरता अथवा कुरूपता के साथ मूर्तिकार की कला का, उसके दर्शक पर पड़ता है। कोई भी मूर्ति, अमूर्त परमात्मा की न होने से हमारा ध्यान ईश्वर की ओर आकृष्ट नहीं कर सकती उसके बनाये सूर्य, चंद्र, नक्षत्र, प्राणियों की अद्‌भुत शरीर रचना, संसार को विमोहित करने वाले वृक्ष, लतिका और पुष्पों से लदे हुए पहाड़ और जङ्गल ही हमें उसकी स्मृति दिला सकते हैं। इन्हें त्याग कर कुशल से कुशल मूर्तिकार की रचना में ईश्वर दर्शन की इच्छा केवल बुद्धि-विभ्रम है।

मूर्तिपूजा का सामाजिक दृष्टि से मानव जीवन पर क्या कुप्रभाव पड़ता है, इसे यदि आप देखना चाहें तो हिन्दुओं के तीर्थ स्थानों की आन्तरिक अवस्था को देखिये। आप सर्वत्र अन्धविश्वास, दंभ, आडंबर और दुराचार का साम्राज्य पावेंगे। वहाँ आपको ऐसे भी लोग मिलेंगे जो मूर्तिपूजा की उपादेयता में विश्वास रखते हैं। किन्तु प्रायः ऐसे लोग वे हैं जो बाहर से आये हुए हैं और जिन्होंने पवित्र स्थान समझ कर इन्हें

अपना निवासस्थान बना लिया है अन्यथा वहाँ के निवासी मूर्ति-पूजा में जीविका के लिए विश्वास करते हैं। दूरदेशस्थ प्रान्तों से आये हुए यात्रियों को मूर्तियों के चमत्कार की अनेक कल्पित गाथायें सुनाकर उन्हें प्रभावित तथा भयभीत करना और बहुप्रकार के दंभ और आडम्बर दिखाकर उनकी जेब को अन्तिम पाई तक खाली करा लेना ही इनका मुख्य व्यवसाय है। कभी तो यहाँ के पण्डे इन यात्रियों के पास इतना धन भी नहीं छोड़ते कि वे घर भी लौटकर जा सकें। अन्त में पण्डे ही इन्हे ऋण देकर व्याज सहित उनसे उसे अपहरण करते हैं। स्त्रियाँ जो प्रायः अधिक भावुक होती हैं, इनसे बुरी तरह लूटी जाती हैं। उनके चाँदी-सोने के आभूषण तक उतरवा कर यह मूर्तियों के अर्पण करा देते हैं। इन यात्रियों की धर्मभीरुता का यह लोग कितना दुरुपयोग करते हैं, उसका ठीक अनुमान देखकर ही लगाया जा सकता है। उन स्थानों पर होने वाला परस्त्रीगमनादि व्यभिचार अब कोई छिपी बात नहीं है। इन दुष्कृत्यों के लिये मन्दिरों के न केवल साधारण पण्डे-पुजारी ही, अपितु बड़े-बड़े महन्त तक ख्याति लाभ कर चुके हैं। बम्बई का महाराज (वैष्णव संप्रदाय का एक प्रमुख महन्त) लाइविल-केस, कलकत्ते के गोविन्द-भवन की गूँज और श्रीनाथ जी के मन्दिर के महन्त दामोदर लाल हंसा प्रेम—जैसी न जाने कितनी घटनाएँ घटीं, और आज भी इन देवमूर्तियों की आड़ में घटती रहती हैं।

मूर्तिपूजा पर देश का कितना धन पानी की भांति बहाया जाता है इसका अनुमान करना भी कठिन है। मन्दिर-निर्माण पर अरबों-खरबों का व्यय किया गया है; जिनकी बनावट इस ढङ्ग की है कि उनका कोई दूसरा सदुपयोग असंभव है। अन्ध-कार युक्त कोठे-कोठरी, जिनमें दिन में भी दीपक के प्रकाश की

मूर्तिपूजा और योगसाधन

योगसाधन ही ईश्वर प्राप्ति की एकमात्र विधि है। अन्य प्रचलित विधियाँ उसका एक अङ्ग हो सकती हैं, सर्वाङ्ग नहीं। संसार में ईश्वर-उपासना की जो विधियाँ प्रचलित हैं, उनमें से बहुत सी किसी न किसी अंश में उसकी ऋणी हैं, किन्तु अपूर्ण हैं। इस विधि को समझने के लिये उसका संक्षिप्त परिचय यहाँ अनुचित न होगा। पतञ्जलि मुनि ने अपने संसार प्रसिद्ध योग-दर्शन में, 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोध."-चित्त की वृत्तियों का निरोध अर्थात् वश में रखना योग है—ऐसा लिखा है। "यमनियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधयोऽष्टावङ्गानि"-यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि यह आठ अङ्ग योग के वर्णन किये हैं।

"अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा:"—अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी त्याग) ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह (निर्लिप्तता) यम हैं। "शौचसन्तोषतप: स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमा:"—शौच, (पवित्रता) सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान (ईश्वरार्पण) नियम हैं। शेष छः अङ्ग—आसन (सुखपूर्वक शरीर को एक अवस्था में स्थिर रखना, प्राणायाम (प्राण को वश में रखने की विधि) प्रत्याहार (इन्द्रिय निग्रह) धारणा (मन की एक स्थान पर स्थिरता) ध्यान (मन का स्थिर होकर निर्विषय होजाना) समाधि (ईश्वर चिन्तन में निमग्न हो जाना) हैं।

उपर्युक्त योग-साधन-विधि सर्वाङ्ग पूर्ण है। आज तक जितनी भी विधियां योग के नाम से प्रचलित हुई हैं वे सब इस ही का विकृत रूप हैं। प्रायः यह कहा जाता है कि यह विधि इतनी दुःसाध्य है कि कदाचित् कोई ही मनुष्य इसपर चलकर ईश्वर-प्राप्ति कर सके। ईश्वर-प्राप्ति जीवन का अन्तिम और सर्वोच्च ध्येय है, अत. योग-विधि, यदि कठिन है तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? परन्तु हम ईश्वर-प्राप्ति के अनेक सस्ते—किन्तु मिथ्या—उपायों के अभ्यस्त होगये हैं। आप मूर्ति के दर्शन मात्र से मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। किसी नदी अथवा जलाशय में एक बार का स्नान आपको स्वर्ग प्राप्त करा सकता है। किसी विशेष प्रकार का तिलक अथवा चिन्ह आपको मुक्ति दिला सकता है। इतना ही नहीं केवल एक बार नामोच्चारण से आप उसके अधिकारी बन सकते हैं। जब ईश्वर-प्राप्ति इतना सस्ता सौदा है, तो कौन ऐसा मूर्ख है जो यम, नियमों के चक्कर में पड़े? आसन, प्राणायाम का झंझट मोल ले अथवा स्वाध्याय में शिरखप्पी करे? धारणा, ध्यान तथा समाधि—जो एक देवदुर्लभ वस्तु है—की तो चर्चा ही व्यर्थ है। इस प्रकार के झूठे प्रलोभनों ने हमें प्राचीन उपासना विधि से बहुत दूर ला खड़ा किया है। हम अष्टाङ्ग योग से अपरिचित नहीं, परन्तु सस्ते नुस्खों के सामने हमने उसे छोड़ रखा है। साधारण समाज की बात जाने दीजिये, हमारा शिक्षित समुदाय भी आज उससे विमुख है।

मूर्तिपूजा का योगसाधन में कोई भी उपयोग नहीं और न उसका इससे कोई सम्बन्ध है। 'मूर्ति में मन स्थिर होजाता है, यह नई युक्ति है जो शिक्षित समुदाय को प्रभावित करने के लिए गढ़ी गई है। न केवल भारतवर्ष अपितु समस्त संसार की मूर्ति-पूजा का इतिहास इस युक्ति की सहायता नहीं करता। यदि

मन्दिरों में मूर्ति-स्थापना का यह उद्देश्य होता तो उनमें प्राणप्रतिष्ठा के समस्त विधि-विधान की क्या आवश्यकता है? मूर्तियों के स्नान, चन्दन, परिधान तथा विभूषण का क्या अर्थ? भोग लगाना आरती उतारना, चवर डुलाना, पंखा करना, सुलाना, जगाना, इन सबका क्या अभिप्राय है? मूर्ति के समक्ष खड़े होकर उसके हाथ जोड़ना अथवा साष्टाङ्ग दण्डवत् करने का क्या तात्पर्य है क्या शंख, घण्टा, घड़ियाल आदि अनेक वाद्यों का कोलाहल कभी मनको स्थिर करने में सहायक हो सकता है? मन्दिरों का समस्त वातावरण ही उपरिलिखित युक्ति का सर्वथा खण्डन करता है। मूर्तिपूजा का पोषक एक भी पुराण इस युक्ति का उल्लेख नहीं करता। और न मन्दिरों में प्रचलित पूजा-विधि में ही आज तक इसका समावेश है।

मन्दिरों का जिस ढङ्ग से निर्माण किया जाता है वह भी हमारे ही पक्ष की पुष्टि करता है। यदि मूर्ति-पूजा का उद्देश्य मन को स्थिर करना होता तो मन्दिरों की बनावट दूसरे ही प्रकार की होती बहुत से बड़े-बड़े मन्दिरों में उपासक यदि आसन लगा कर मन को स्थिर करने की भावना से मूर्ति के सन्मुख बैठें तो उन्हें मूर्ति का दिखाई पड़ना ही कठिन हो जायगा। या फिर शिवालय इतने संकीर्ण होते हैं कि वहाँ चार छ उपासक भी एक साथ नहीं बैठ सकते। मध्य में शिवलिंग, एक ओर शिवपत्नी पार्वती दूसरी ओर उनके पुत्र गजानन, तीसरी ओर उनका वाहन वृषभ। अब कहिए उपासक किस पर अपना मन स्थिर करे? यदि आप कहें कि शिव लिङ्ग पर, तो अन्य मूर्तियों की स्थापना का वहाँ क्या उद्देश्य? हमने लोगों को वृषभ की भी पूजा करते देखा है जो सर्वथा स्वाभाविक है। इस प्रकार समस्त मन्दिरों का निर्माण यह निर्विवाद रूप से सिद्ध करता है कि कम से कम मूर्तिपूजा का

प्रचार कभी भी इस उद्देश्य से नहीं किया गया। यदि मूर्तिपूजा का उद्देश्य मन को स्थिर करना होता तो मूर्ति की स्थापना खुले स्थान मे होती जिसके चारों ओर उपासक बैठ कर उसकी धारणा कर सके। धारणा योग का छटा अङ्ग है उसकी तैयारी के लिए पहिले पाँच अङ्गों का उपासक को अभ्यास करना होता है। तब कहीं उसका अधिकारी बनता है। किन्तु मूर्तिपूजक के लिए इसकी आवश्यकता नहीं। वहाँ तो मन्दिर मे जाकर दर्शनमात्र से उसके पाप नष्ट हो जाते हैं। इतना ही नहीं, यदि भूल से भी देवमूर्ति अथवा उसके निवासस्थान मन्दिर की कुछ सेवा बन जाय तो पापी से पापी मनुष्य भी स्वर्ग का अधिकारी हो जाता है। पुराणों मे ऐसी अनेक कथाएँ हैं। एक चोर मूर्ति के आभूषण चुराने के लिये मन्दिर मे आया मार्ग में कुछ कीचड थी जिससे उसके पैर सन गए। मन्दिर के प्राङ्गण में उसने अपने पैर रगड़ दिए। चोरी करके लौटते समय उसे सर्प ने काट लिया। यम और भगवान के दूतों में उसकी आत्मा को नरक अथवा स्वर्ग ले जाने का विवाद उठ खड़ा हुआ। अन्त में उसको स्वर्ग मिला। क्योंकि उसने भूल से अपने पैरों की कीचड मन्दिर मे रगड दी थी। इसलिये मन्दिर के लेपन का फल उसे मिल गया।

भविष्य पुराण ब्रा० अ० १७ के निम्न श्लोक इसके अन्य उदाहरण हैं—

नैरन्तर्येण य कुर्यात पक्ष, सम्मार्जनार्चनम्।
युगकोटिशत साग्र ब्रह्मलोके महीयते ॥

अर्थ—एक पक्ष तक यदि कोई निरन्तर ब्रह्मा के मन्दिर झाड़ू देवे तो एक अरब युग तक ब्रह्मलोक में रहता है।

कपटेनापि य कुर्यात् ब्रह्मशाला सुभानद।
संमार्जनादि वै कर्म सोऽपि तत फलमाप्नुयात ॥

जो कोई कपट और छल से भी ब्रह्मा के मन्दिर में झाड़ू लेपनादि करता है। उसको भी वही फल मिलता है जो श्रद्धा से करने वाले को मिलता है।

कल्पकोटिसहस्रैस्तु यत् पापं समुपार्जितम्।
पितामहघृतस्नान दहत्यग्निरिवेन्धनम्॥

अर्थ—करोड़ों कल्पों में जो पाप संचित किया है वह ब्रह्मा को घी से स्नान कराने में दूर हो जाता है। इस प्रकार पुराणों मे स्नान मार्जन, आचमन, धूप, दीप, मन्दिर निर्माण-आदि अनेक कृत्य जो देव मूर्तियों के प्रति किए जाते हैं उनका बड़ा माहात्म्य वर्णन किया गया है। जिससे इस परिणाम पर पहुँचने में, कि मूर्तिपूजा का योग की 'धारणा' से कोई भी सम्बन्ध नहीं है, कोई कठिनाई नहीं रहती। मूर्तिपूजा पर बुद्धिमान् लोग सदा आक्षेप करते रहते हैं। ऐसे लोगों को उत्तर देने के लिए चतुर मूर्ति-पूजक इस कल्पित युक्ति के आधार पर एक दार्शनिक भवन निर्माण करने का व्यर्थ प्रयत्न करते रहते हैं। अतः हम यहाँ इस युक्ति के दार्शनिक पक्ष पर विचार करेंगे।

इस पर विचार करने से पूर्व यह समझ लेना चाहिए कि धारणा, ध्यान और समाधि क्या हैं और उनमे क्या अन्तर है। योग दर्शन के मतानुसार—

"देशबन्धश्चित्तस्य धारणा" चित्त का किसी देश (स्थान) में बांधना धारणा कहलाता है। "तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्"। उस धारणा में प्रत्यय (ज्ञान) का एक-सा बना रहना ध्यान कहा जाता है। "तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधि"। उसी ध्यान मे जब अर्थ (ध्येय) मात्र का प्रकाश रह जावे और (ध्याता) अपने रूप से शून्य-सा हो जावे तो उसे समाधि कहेंगे। चित्त को एकाग्र करने के लिए अपने शरीर के नाभिचक्र, हृदय-कमल, भ्रूमध्य, नासिका का अग्रभाग

जिह्वा का अग्रभाग आदि स्थान प्रसिद्ध हैं। तथापि "यथा-भिमतध्यानाद्वा" अथवा जो अभिमत (इच्छानुकूल) हो उसका ध्यान करने से भी चित्त स्थिर हो जाता है—ऐसा दूसरे स्थान पर लिखा है। इन्ही शब्दों को लेकर लोग कहते हैं कि यदि हम किसी देवमूर्ति ही की धारणा अथवा ध्यान करें तो इसमें क्या आपत्ति है ? परन्तु वे लोग भूल जाते हैं कि किसी वाह्य वस्तु की धारणा अथवा ध्यान करने से हम उसी का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, परमात्मा का नहीं। इनको योग दर्शन में सिद्धिया कहा गया है। और इन्हें समाधि में, जो योग की अन्तिम सीढ़ी है, विघ्न बताया है—'ते समाधावुपसर्गा : व्युत्थाने सिद्धय :" ये समाधि में विघ्न हैं किन्तु व्युत्थान (योगीकी एक अवस्थाविशेष) मे सिद्धियाँ है

योग व सांख्य दर्शन में ध्यान के दो लक्षण किये गए हैं। परमात्मा के ध्यान के विषय में लिखा है —"ध्यानं निर्विषयं मनः" (सांख्य) सम्पूर्ण सांसारिक विषयों से मन को हटाना ध्यान है। तात्पर्य यह है कि जब तक मन किसी भी सांसारिक वस्तु मे लगा रहेगा, परमात्मा का ध्यान नहीं होगा। जब किसी भी वस्तुविशेष का जिसमें ईश्वर और वाह्य जगत् दोनों ही सम्मिलित हैं, ध्यान किया जायगा तो उसका पूर्ण ज्ञान प्राप्त होगा। यदि वह ईश्वर है तो ईश्वर का यदि शरीर से सम्बन्ध रखता है तो शारीरिक और यदि वाह्य जगत् से उसकासम्बन्ध है तो उस वस्तु का सम्पूर्ण ज्ञान योगी प्राप्त कर सकता है।

"नाभिचक्रे कायाव्यूह- ज्ञानम्" नाभिचक्र में धारणा ध्यान समाधि द्वारा शरीर की बनावट का सम्यक् ज्ञान हो जाता है। "सूर्ये संयमात् भुवनज्ञानम्' सूर्य में संयम करने से भुवन का ज्ञान होता है। "कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्ति" कंठकूप नाड़ी में संयम से भूख और प्यास की निवृत्ति होती

है। इत्यादि अनेक सूत्रों द्वारा इनका फल, अनेक प्रकार की विद्या तथा विज्ञान की सिद्धि बतलाई है, किन्तु ईश्वर-प्राप्ति नहीं। इन्ही के द्वारा योगी दूरदेशस्थ स्थान की बात सुन और देख सकता है। तथापि यह समस्त सिद्धियां ईश्वर-प्राप्ति में बाधक ही हैं।

अब यदि आप किसी मूर्ति को ही सम्मुख रखकर उसकी धारणा अथवा ध्यान करें तो आप उस मूर्ति का पूरा ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। अर्थात यह मूर्ति किस वस्तु की बनीहै? किसकी है? उसे किसने बनाया है? मूर्ति सुन्दर है अथवा कुरूप है? और इस प्रकार मूर्ति अथवा मूर्ति कला का ही हमे परिचय प्राप्त होगा, परमात्मा का नहीं।

सूर्य चन्द्रादि प्रकृति, पदार्थों का ध्यान हमे उनके निर्माता परमात्मा की स्मृति दिला सकते हैं। परन्तु मूर्ति द्वारा हम केवल मूर्तिकार तक ही पहुंच सकते हैं। वर्तमान वैज्ञानिक जगत् के भौतिक आविष्कार भी चित्त के संयम का परिणाम हैं केवल प्रकार का अन्तर है। परन्तु एक अभागे हम हैं कि योगदर्शन जैसे रत्न को रखते हुए भी लौकिक और पारलौकिक दोनों ही उन्नतियों से वञ्चित हैं। 'योगदर्शन हिन्दू जाति के ज्ञान के भण्डार में एक ऐसा रत्न है, कि यदि हमने मूर्तिपूजा के भ्रम-जाल मे फंस कर उसकी शिक्षाओं को विस्मृत न किया होता तो यह जाति उसके सम्यक् ज्ञान द्वारा आज उन्नति के शिखर पर होती, । वर्तमान समस्त वैज्ञानिक खोज एक योगी के लिए साधारण-सी सिद्धियां हैं। जिन्हें वह परमानन्द की प्राप्ति के सन्मुख न केवल तुच्छ अपितु इसमें बाधक समझता है। केवल चित्त के एकाग्र होने पर चिरस्थायी सुख-की प्राप्ति नहीं होसकती अन्यथा विषयों मे भी थोड़े क्षण के लिए चित्त एकाग्र होजाता है। हम जो भी क्षणिक सुख अनुभव करते हैं वास्तव में वह

हमे इस विषय मे प्राप्त नहीं होता अपितु उसका मूल स्रोत चित्त की एकाग्रता है परन्तु यह चित्त की एकाग्रता भी स्थायी सुख का कारण नहीं है। स्थायी सुख तथा आनन्द का स्रोत तो परमात्मा है। अतः जब तक मनुष्य का चित्त प्राकृतिक पदार्थों मे उलझा रहेगा, चाहे वे योग की सिद्धियाँ ही क्यों न हों आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसीलिए इन सिद्धियों को भी परमात्मा की प्राप्ति मे बाधक बताया है। जब यह सिद्धियाँ ही बाधक है तो मूर्तिपूजा का तो उसमे सम्बन्ध ही क्या ? 'मूर्ति' की योगदर्शन के किसी भी प्राचीन भाष्यकार ने धारणा की जाने वाली वस्तुओं मे गणना नहीं की और न मूर्तिपूजा की ओर कहीं सङ्केत ही किया है। यह तो एक ऐसी कल्पना है जिसके लिए न कोई युक्ति है, और न प्रमाण।

संसार मे यदि आज योग - साधन -विधि विलुप्त हो गई है, तो उसका समस्त उत्तरदायित्व मूर्तिपूजा और उसके प्रचारकों पर है। यदि आज मानव समाज ईश्वरविमुख होकर सांसारिक भोग विलास के प्रभाव में बहा जा रहा है तो इसके लिए वे उत्तरदाता है, जिन्होंने योग-विज्ञान पर अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए कुठाराघात किया। हमने यदि इस अपूर्व विज्ञान को तिलाञ्जलि न दी होती तो आज संसार का चित्र ही दूसरा होता। पश्चिम के लोग आज भी योग के नाम पर मुग्ध है। अमेरिका के लिए इस भौतिक युग के चकाचौंध मे भी 'योग' शब्द विशेष आकर्षण रखता है। किन्तु आज 'योग विधि' अपनी जन्म भूमि भारत मे ही विलुप्त हो चुकी है। तब इन देशों को उसका क्रिया मक सन्देश दे तो कौन दे ? मूर्ति चित्त को एकाग्र करने का साधन नहीं हो सकती, इस पर आइए मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी विचार करलें। मन अपनी चञ्चलता के कारण अस्थिर रूप मे इधर-उधर घूमता रहता है। इसकी इस चञ्चलता को

दूर करने के लिए उसे एक स्थान पर स्थिर करने का अभ्यास करना चाहिए। वह स्थान इतना सूक्ष्म होना चाहिए अथवा उसे क्रमश: इतना सूक्ष्म बना लेना चाहिए कि जिससे मन को इधर-उधर दौड़ने का अवकाश न मिले।

मेस्मरेजम (Mesmerism) जो योग का ही विकृत रूप है, का अभ्यास करने वाले गोलाकार विन्दु को संकीर्ण करते जाते हैं। यहाँ तक कि वह एक अत्यन्त सूक्ष्म विन्दु रह जाता है परन्तु अन्त में उसे भी हटा दिया जाता है। अभिप्राय यह है कि मन को केन्द्रित करने के लिए सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु की आवश्यकता है जिससे उसे इधर-उधर दौडने का अवसर न मिले। किन्तु मूर्ति पर अभ्यास करने से हमारी उद्देश्य-पूर्ति न केवल कठिन अपितु असम्भव हो जाती है। मूर्ति के सन्मुख आते ही आपका मन उसके विभिन्न शारीरिक अङ्गों में भ्रमण करने लगेगा। उसके चित्र विचित्र वस्त्रों तथा आभूषणों में घूमेगा। यदि उस मूर्ति का आधार कोई ऐतिहासिक अथवा कल्पित पौराणिक व्यक्ति विशेष है तो मन तत्सम्बन्धित इतिहास अथवा गाथा का स्मरण आते ही उसमें उलझ जायगा। और इसप्रकार साधक अपने उद्देश्य के निकट न पहुंचकर उससे उत्तरोत्तर दूर होता चला जायगा। इसलिए देश और जाति के शुभचिन्तक एव विचारशील पुरुषों का कर्त्तव्य है कि वे इस भयंकर धार्मिक कुरीति का यथोचित प्रतिकार करने का प्रयत्न करें और इसके स्थान पर प्राचीन योग विधि का,जिसमें कि एक साधारण व्यक्ति से लेकर उच्च से उच्च वैज्ञानिक के लिए उपासना की सम्पूर्ण विधि का समावेश है, प्रचार तथा प्रसार करें, एवं मूर्तिपूजाका योग क्रिया से सम्बन्ध स्थापित करने का जो अनुचित और स्वार्थपूर्ण प्रयत्न किया जारहा है उसे दूर करने के लिए अग्रसर हों।

मूर्ति-पूजा शङ्का-समीक्षा

मूर्ति-पूजा कब से चली अथवा किसने चलाई, प्राचीन धर्म ग्रन्थ उसका समर्थन करते हैं या नहीं, इस विवाद में न पड़ कर मूर्तिपूजा के पक्षपाती अपने पक्ष में अनेक युक्तियां दिया करते हैं। मूर्तिपूजकों मे बहुत बड़ी संख्या तो ऐसे व्यक्तियों की है जो मूर्तिपूजा मे परम्परा से श्रद्धा रखते हैं। आप चाहें तो उसे अन्ध-श्रद्धा कह सकते हैं। परन्तु उनका ऐसा ही विश्वास है। मूर्ति की श्रद्धा और विश्वास के साथ पूजा करते हैं। मूर्ति-ईश्वर की है अथवा ईश्वरीय शक्ति प्राण प्रतिष्ठा द्वारा उसमें आ गई है, इससे उनको कोई अभिप्राय नहीं। मूर्ति किस देवता अथवा अवतार की है इससे उन्हें विशेष प्रयोजन नहीं। मूर्ति उनकी प्रार्थना सुनने की शक्ति रखती है या नहीं यह जानने की भी उन्हें विशेष चिन्ता नहीं। वे उसकी पूजा ईश्वर-पूजा समझते हैं। आप उनसे इस विषय में यदि कुछ प्रश्न करें तो वे इस विवाद में पड़ने से बचने का प्रयत्न करेंगे। उनका विश्वास है या यों कहिये कि उन्हें ऐसा विश्वास करा दिया गया है कि तर्क और बुद्धिवाद का धर्म में कोई सम्बन्ध नहीं है। उनके विचार में भक्ति और तर्क दो विरोधी वस्तुएं हैं जो एक साथ नहीं ठहर सकतीं। अतः वे इस व्यर्थ के विवाद में पड़ कर अपनी चिरसंचित भक्ति-भावना को ठेस नहीं पहुँचाना चाहते।

जो कुछ उनके पूर्वज परम्परा से करते चले आ रहे है, उसी मे वे सतुष्ट है। आप यदि उनसे इस विषय पर अधिक विचार विनिमय करने का प्रयत्न करे तो वे सरलतापूर्वक अपनी अनभिज्ञता स्वीकार कर लेंगे। इन महानुभावों की अवस्था उस व्यक्ति जैसी है जो अन्धकार में भटक रहा हो और उसी मे सन्तुष्ट हो। ऐसे लोगो के सम्बन्ध मे आर्य-समाज के सुप्रसिद्ध दार्शनिक प० गङ्गाप्रसाद जी उपाध्याय एम० ए० ने बड़ा सुन्दर लिखा है.—

"He is in the dark and wishes to remain in the dark He does not want light If you throw any beam of light upon him by interrogation, he resents it and shudders at it. He feels that mental anylesis might make him a renegade and therefore he avoids it Not that he cannot reason Among idolators you will find best lawyers whose legal acumen is awe inspiring, Professors of logic whose fallacy detecting capacity is unquestionable, Shrewd politicians who clearly see the invisible forces working in the domain of world politics , traders from whose [illegible]n eye no corner of the world market

all intellectuals and you will find them worshiping in templas as devoutly as their uneducated brothers and sisters—side by side with them, and as vaguely too"

वह (मूर्तिपूजक) अन्धकार में है और उसी में रहना चाहता है। वह प्रकाश का इच्छुक नहीं। यदि आप बातचीत करके इस सम्बन्ध में उसे बतलाना चाहें तो वह उसे रुचिकर न होगी और वह उससे घबरायेगा। उसे भय है कि इस प्रकार की बौद्धिक छानबीन उसे अविश्वासी न बनादे और इसलिए वह उससे बच निकलने का प्रयत्न करता है। इसका कारण यह नहीं कि वह तर्क-वितर्क की योग्यता नहीं रखता। मूर्तिपूजकों में आपके सर्वोत्तम वकील जो चकित करने वाली तीव्र तार्किक बुद्धि रखते हैं, तर्कशास्त्र के उपाध्याय जो सूक्ष्म हेत्वाभास को ढूँढ निकालने की क्षमता रखते हैं, तथा चतुर राजनीतिज्ञ जो संसार के राजनीतिक क्षेत्र में गुह्य से गुह्य कार्य करने वाली शक्तियों का सहज में साक्षात कर लेते हैं, मिलेंगे। उनमें आपको वाणिज्य कुशल व्यापारी जिनकी दृष्टि से संसार की किसी मण्डी का कोई कोना छिपा हुआ नहीं है, अर्थशास्त्री जो शोषक वर्ग की चालों का सफलतापूर्वक प्रतिकार कर सकते हैं, ज्योतिष-विद्याविशारद जिनको आकाशस्थ ग्रह, उपग्रहों का अपने गृह से भी कहीं अधिक परिज्ञान है तथा गणितज्ञ जिन्हें गणित के सूक्ष्म तत्वों पर पूर्णाधिकार है, पायेंगे। यह सब बुद्धि विशेषज्ञ हैं। परन्तु इन्हें मन्दिरों में आप अनपढ़ लोगों के साथ वैसी ही भक्ति-भावना तथा अनिश्चित बुद्धि से मूर्तिपूजा करते देखेंगे।

उपर्युक्त उद्धरण ऐसे लोगों की मनोवृत्ति का ठीक चित्रण करता है। मूर्तिपूजकों में कुछ आपको ऐसे लोग भी मिलेंगे जो मूर्तिपूजा की सिद्धि में शुष्क दार्शनिक युक्तियां उपस्थित करते रहते

है। किन्तु मन्दिरों में आप ऐसे लोगों को ठीक उसी ढङ्ग से जो कि सर्व साधारण की विधि है—पूजा करते पायेंगे। उनका समस्त तर्क-वितर्क केवल वाणी तक ही सीमित है, कार्यरूप में उनमें और साधारण मूर्तिपूजक में आप कोई अन्तर नहीं देखेंगे। इन लोगों का कार्य ठाली बैठे युक्तियों का ताना-बाना बुनना ही है, जिनके द्वारा यह मूर्तिपूजा को एक दार्शनिक रूप देने का असफल प्रयत्न किया करते हैं।

उपर्युक्त कोटि में कुछ ऐसे भी व्यक्ति हैं, जो मूर्तिपूजा के दोषों को भली भांति समझते हुए भी स्वार्थवश उसके रक्षार्थ ऐसी अर्थहीन युक्तियां प्रस्तुत किया करते हैं। और कभी-कभी उसे स्वीकार भी कर लेते हैं, किन्तु जीविका के कारण विवश है। ऐसी ही युक्तियों पर यहां इस अध्याय में विचार किया जायगा।

(१)

"ईश्वर अनन्त है और हम सान्त है। सान्त जीव अनन्त परमात्मा के वास्तविक स्वरूप को समझने में अशक्त है। मूर्ति द्वारा हम उसे एक सीमित कोटि में ले आते हैं जिससे हमें उसका कुछ आभास हो सके।"

जो परमात्मा अनन्त है वह सदा अनन्त ही रहेगा उसे मूर्ति में परिमित करने की कल्पना ही हास्यास्पद है। जो वस्तु जैसी है उसे वैसी मानना और जानना ज्ञान है। उससे भिन्न विपरीत अज्ञान है। उपासना का अर्थ ही उस अनन्त की खोज है। मूर्ति द्वारा हम मूर्ति का ही ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं जो हमारे समक्ष है, उस अनन्त परमात्मा का नहीं। यह समझ लेना कि मूर्ति द्वारा हम उस अनन्त का साक्षात् करते हैं, एक भ्रम है। फिर एक मूर्तिपूजक सदा मूर्तिपूजक रहता है, आजतक किसी को भी एक पग आगे बढ़ते नहीं देखा।

यह कहना कि सान्त जीव को अनन्त परमात्मा का परिज्ञान नहीं हो सकता एक शाब्दिक जाल है। एवं "अनन्त परमात्मा सान्त जीव के जान लेने पर सान्त ठहरेगा" यह भी असत्य है। परमात्मा अनन्त है यह समझ लेना ही उसके अनन्तत्व का पूर्ण ज्ञान है। एक पक्षी आकाश का अन्त पाने की इच्छा से उड़ान भरता है किन्तु जब वह उसे न पाकर थक जाता है तो समझता है कि वह अनन्त है। ठीक इसी प्रकार जब जीव परमात्मा का अन्त न पाकर थक जाता है तो वह उसके अनन्तत्व का अनुभव करता है। और यही उस अनन्त ब्रह्म का सम्यक् ज्ञान है। उपासना का उद्देश्य परमात्मा को जानना है। उसका उद्देश्य यह कभी नहीं है कि हम उसके सम्बन्ध में सब कुछ जानलें। हमें तो उसके सम्बन्ध में उतना ही ज्ञान प्राप्त करना है जितना कि जीव के उत्थान के लिये अपेक्षित है, परमात्मा सम्बन्धी सम्पूर्ण ज्ञान न हम प्राप्त कर सकते हैं और न उसकी हमें आवश्यकता है। परमात्मा अनन्त है अत हम उसे जान ही नहीं सकते, इस प्रकार की असत्य भावना लोगों में उत्पन्न करके उन्हे निरुत्साहित करना बड़ा पाप है। हम उस परमात्मा को बुद्धिबल तथा आत्मबल दोनों ही से जान सकते हैं अत जहा यह कहना कि हम उसके सम्बन्ध में कुछ नहीं जान सकते, असत्य है, वहा यह भी असत्य है कि हम उसके सम्बन्ध में सब कुछ जान सकते है।

(२)

"ईश्वर निराकार है, निराकार के दर्शन नहीं हो सकते। अत. हम उसकी मूर्ति बना लेते हैं। जिससे हमारी दर्शन-लालसा पूरी होसके।"

जब परमात्मा निराकार है तब उसकी साकार मूर्ति बनाई ही कैसे जा सकती है। चित्र अथवा प्रतिमा किसी साकार वस्तु

ही की हो सकती है। जो वस्तु हमको दिखाई पड़ती है वह भी आकार वाली होती है। अत जिस आकृति को हम देखते हैं वह मूर्ति की है ईश्वर की नहीं। जो रूप रङ्ग का आकार हमें दिखाई पड़ रहा है वह उस मूर्ति का है, परमात्मा का नहीं। इस प्रकार मूर्ति-दर्शन मूर्ति-दर्शन ही रहेगा, ईश्वर-दर्शन नहीं। जो लोग मूर्ति के दर्शन करके यह समझते हैं कि उन्होंने परमात्मा के दर्शन कर लिये, वह गहरे अन्धकार मे हैं। धर्मशास्त्र में जहाँ ईश्वर-दर्शन का उल्लेख है, वहाँ दर्शन शब्द से तात्पर्य ज्ञान चक्षुओं द्वारा दर्शन अर्थात् आत्मबोध से है। चर्म चक्षुओ द्वारा देखने का नहीं। यह बड़े दुःख और आश्चर्य का विषय है कि मनुष्य उस परमात्मा को देखने के लिये उन्मत्त है जिसे वह इन चर्म चक्षुओं से देख नहीं सकता, उसे सुनना चाहता है जिसे इन कानों से सुन नहीं सकता। उपनिषद् उसे "अशब्दम-स्पर्शमरूपमव्ययम" (कठोपनिषद्) अर्थात् वह शब्द, स्पर्श, रूप का विषय नहीं है और न उसे विभाजित किया जा सकता है, स्पष्ट रूप से उद्घोषित कर रहे है। ईश्वर-दर्शन के नाम पर मानव समाज मे विभिन्न सम्प्रदायों ने बड़ा भ्रम उत्पन्न किया हुआ है। पुराणों में ऐसी अनेक कथाएँ हैं जिनमें ईश्वर का सशरीर भक्तों द्वारा दर्शन करने का उल्लेख है। अनेक सन्तों के सम्बन्ध मे तो ऐसी दन्तकथाओं की कमी ही नहीं। अमुक भक्त अड़ गया कि वह तो परमात्मा के सशरीर ही दर्शन करेगा, विवश होकर ईश्वर को दर्शन देने पडे 'इत्यादि' इत्यादि। इसी प्रकार कुरान मे भी मुहम्मद साहब का बुर्राक घोडे पर चढ कर स्वर्ग मे जाकर ईश्वर से वार्तालाप करने का वर्णन है। परन्तु ये समस्त कल्पनाएं हैं और ईश्वर के वास्तविक रूप को न समझने का परिणाम हैं। बहुत लोग इसी भ्रम मे पड़कर स्वार्थी लोगों द्वारा ठगे जाते हैं। जब हम अपनी आँख बन्द करके बाह्य जगत

को देखना बन्द कर देते हैं, उस समय भी हमारे चक्षुओं के देखने की शक्ति विद्यमान रहती है और उनकी वृत्ति अन्तर्मुखी हो जाती है। निरन्तर अभ्यास से मनुष्य एक धुँधला-सा प्रकाश अपने अन्दर देखने लगता है। साम्प्रदायिक गुरुजन इसे ही ईश्वरीय प्रकाश बताकर लोगों को ठगते हैं। इसी प्रकार जब हम कान को अँगुलियों अथवा रुई आदि से बन्द कर लेते हैं तो बाह्य शब्द न सुनकर हमारे कान आन्तरिक शब्दों में गूँजने लगते हैं। इसको भी ईश्वरीय शब्द बताकर 'अनहद' आदि न जाने कितने नाम रख लिये हैं। किन्तु वह रूप और शब्द दोनों ही भौतिक हैं। इन्हें ईश्वरीय बताना मनुष्य समाज को पथभ्रष्ट करना है। स्वप्नों के सम्बन्ध में भी लोगों में ऐसा ही अज्ञान फैला हुआ है। जब मनुष्य किसी मूर्ति अथवा चित्र को सन्मुख रखकर उसका निरन्तर अभ्यास करता है तो मूर्ति अथवा चित्र की प्रतिच्छाया-सी प्राय उसके सम्मुख बनी रहती है और वह उसे स्वप्नावस्था मे देखता है। कभी-कभी अधिक अभ्यास से मस्तिष्क की एक प्रकार की विकृतावस्था के कारण जागृत दशा में भी वह उसका भान करता है। इसे भी लोग ईश्वर अथवा उस देवताविशेष के दर्शन का नाम दे दिया करते हैं परन्तु यह सब भ्रम है। ईश्वर के वास्तविक रूप का जब तक जन साधारण में प्रचार नहीं किया जाता, इस प्रकार की मनोवृत्ति स्वार्थी अथवा मूर्ख लोग उत्पन्न करते ही रहेंगे।

३

"यह सत्य है कि मूर्तियाँ ईश्वर की आकृति नहीं हैं, तथापि मन को एकाग्र करने के लिये उनकी उपयुक्तता तथा आवश्यकता है। चञ्चल मन साकार वस्तु में ही स्थिर हो सकता है, निराकार मे नहीं। यही कारण है कि हिन्दू लोग राम, कृष्ण आदि की मूर्ति

बनाकर उनकी पूजा करते हैं।" इस सम्बन्ध में 'मूर्ति पूजा और योग साधन' अध्याय में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। यह भावना सर्वथा निराधार और असत्य है कि मन निराकार में स्थिर नहीं हो सकता, अतएव उसके लिये साकार मूर्ति की आवश्यकता है। समस्त साकार पदार्थ रूप, रस, शब्द, स्पर्श, गन्ध विषययुक्त होते हैं। और मन की चञ्चलता का कारण भी यही विषय होते हैं, यदि साकार पदार्थ में मन स्थिर होता तो संसार में सब ही का मन स्थिर होगया होता। क्योंकि समस्त संसार ही साकार है। परन्तु इसके विपरीत ज्यों-ज्यों मनुष्य सांसारिक पदार्थों में फँस जाता है वैसे ही वैसे इसके मन की चंचलता बढ़ती जाती है। मन की चञ्चलता तो उस समय दूर होती है कि जब वह निर्विषय होकर ईश्वर का चिन्तन करता है। अतः मूर्ति कभी भी मन स्थिर करने का साधन नहीं हो सकती। मूर्तिपूजक मूर्ति में सब ही विषयों की कल्पना करते हैं। रूप तो उसमें पार्थिव भाग होने के कारण विद्यमान है ही। जब उसका भोग लगाया जाता है तो 'रस' की भी कल्पना कर ही ली। पुष्प चढ़ाना और धूप देने के अर्थ उसमें गन्ध शक्ति को स्वीकार करना है। मूर्ति के हाथ जोड़ना, साष्टाङ्ग दण्डवत करना तथा उसकी स्तुति प्रार्थना यह सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है कि उसके उपासक यह समझते हैं कि वह उनकी इस समस्त क्रिया कलाप को देखती और सुनती है अतएव एक ऐसी वस्तु जिसमें सभी विषयों की कल्पना करली गई है मन को एकाग्र करने का साधन कैसे हो सकती है ?

राम और कृष्णादि महान पुरुष जिनको लोग भूल से ईश्वरावतार समझते हैं, जब जीवित थे तो स्वयं सन्ध्या-वन्दना द्वारा निराकार परमात्मा की उपासना करते थे। वे अपने निकट रहने वाले बन्धु-बान्धवों की मानसिक चञ्चलता को दूर करने में

र्थ रहे। स्वय राम का मन सीता के वियोग मे अधीर हो
या। अर्जुन कृष्ण के उपस्थित होते हुए दर्शन मात्र से
। मानसिक अस्थिरता को दूर न कर सका। यादव कृष्ण के
दर्शन करते रहने पर भी विनष्ट हो गए। फिर यह कौन
सकता है कि उनकी मूर्ति के दर्शन स्पर्शन अथवा पूजा से
। आत्म-उत्थान हो सकेगा। गीता में अर्जुन ने कृष्ण
ाज को सम्बोधन करके कहा है—

चञ्चल हि मन कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याह निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥ ३४ अ० ६

हे कृष्ण! निश्चय ही मन बड़ा चञ्चल है यह शरीर और
यों का मथन कर डालता है। बड़ा बलवान् तथा दृढ़ है।
का निग्रह मेरी दृष्टि मे वायु के समान अति कठिन है।
कृष्ण उसका यह उत्तर नहीं देते कि मैं तेरे सन्मुख उपस्थित
मुझ मे अपना मन स्थिर करले। उसकी चञ्चलता दूर हो
एगी। किन्तु वे कहते हैं —

असशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन च कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥

हे महाबाहो अर्जुन! इसमें सन्देह नहीं कि मन चञ्चल होने
कारण बड़ी कठिनाई से वश में किया जाता है। यद्यपि
भ्यास और वैराग्य से उसे वश में किया जाता है। जब
क्षात् कृष्ण के साथ रहते हुए अर्जुन का मन स्थिर नहीं हुआ
उनकी मूर्ति एक उपासक के मन को किस प्रकार स्थिर कर
कती है?

४

"ईश्वरीय रचना हमें उसके रचयिता का बोध कराती है।
ा मूर्तिया ईश्वर की रचना नहीं है? क्या उन्हे श्रद्धापूर्वक

देखने से उनमे व्यापक परमात्मा और उसकी महिमा का ज्ञान नहीं हो जाता।"

जिस भौतिक पदार्थ की वह मूर्ति बनी है वह निःसन्देह परमात्मा की रचना है किन्तु मूर्ति मूर्तिकार की बनाई हुई है, परमात्मा की नहीं। किसी चित्र अथवा मूर्ति को देख कर हमारा ध्यान उसके बनाने वाले मूर्तिकार पर जाता है जिसकी वह कृति है, किन्तु उस परमात्मा पर नहीं जिसने उन सुन्दर रङ्गों की रचना की है, जिनसे कि यह चित्र बना है और न उस पत्थर अथवा धातु पर जिसके बिना उस मूर्ति का निर्माण असम्भव है। इसका एक कारण है। हम एक सुन्दर चित्र को देख कर चित्रकार की कला की इसलिए प्रशंसा करते हैं कि उसने उस प्राकृतिक पदार्थ का जिसका वह चित्र है सादृश्य प्राप्त करने की चेष्टा की है। अन्यथा वह चित्र उस पदार्थ विशेष से जिसका कि उसमे चित्रण किया गया है, सुन्दर नहीं हो सकता। क्या एक फूल का चित्र वास्तविक फूल की सुन्दरता प्राप्त कर सकता है? कदापि नहीं। अतः यह अस्वाभाविक नहीं है कि किसी चित्र अथवा मूर्ति को देख कर हमारा ध्यान प्रथम उसके बनाने वाले कलाकार पर जाता है, परमात्मा पर नहीं।

ईश्वरीय बोध प्राप्त करने के लिए हमें उसकी प्राकृतिक रचनाओं का जिनमें मनुष्य ने हस्तक्षेप नहीं किया अवलोकन करना चाहिए। क्या तारागणों से भरा आकाश उसकी महानता का परिचय देने के लिए पर्याप्त नहीं है? क्या सूर्य, चन्द्र, लोक-लोकान्तरों की अद्भुत रचना उनके रचयिता का बोध कराने की क्षमता नहीं रखती? क्या सुन्दर वृक्षों और रङ्ग-बिरङ्गे फूलों से लदे जङ्गल और पर्वत हमारा ध्यान उस विचित्र कलाकार की ओर आकृष्ट नहीं कर सकते? सत्य तो यह है

कि उस महान् प्रभु का स्मरण कराने के लिये छोटा—सा फूल ही पर्याप्त है। किन्तु यह तभी सम्भव है जब हमारी चर्म चक्षुओं के साथ हमारी ज्ञान चक्षुओं का भी सहयोग हो।

यह युक्ति भी, कि मूर्ति को देखने से उसमें व्यापक परमात्मा की महिमा का ज्ञान होता है, सर्वथा निराधार है। दूध में घृत है किन्तु देखने वाले को यह दिखाई नहीं देता। तिलों में तेल विद्यमान है परन्तु क्या वह किसी को दिखाई पड़ता है? व्याप्य को देख कर व्यापक का इन चर्म चक्षुओं से कभी ज्ञान प्राप्त नहीं होता। इसके लिए ज्ञान चक्षुओं की आवश्यकता है। किन्तु वह तभी सम्भव है जब हमारी वृत्तिया अन्तर्मुखी हों। मूर्ति पूजा से हमारी समस्त वृत्तियाँ वहिर्मुख होती हैं, उसके द्वारा ईश्वर का हमें कभी भी बोध नहीं हो सकता। उस प्रभु की महिमा का दिग्दर्शन यदि किसी को करना है तो नित्य उदय होकर समस्त संसार का अवलोकन करने वाले सूर्य को देखे। यदि आप ग्रामीण है तो वसन्त ऋतु में फूलों से लदे सरसों के खेतों का अवलोकन कीजिए। अगर आप नागरिक हैं तो नगर के किसी उद्यान में जाकर खिले हुए फूलों के अद्भुत रूप रङ्ग का सूक्ष्म निरीक्षण कीजिए। फूल की एक पङ्खड़ी ही उसकी अपार महिमा का प्रदर्शन करने की क्षमता रखती है। एक साधारण मूर्तिकार द्वारा गढ़ी गई मन्दिर की भद्दी मूर्ति उसकी महिमा का क्या परिज्ञान करा सकती है।

(५)

"जब ईश्वर सर्व व्यापक है तो मूर्ति मे भी है। हम मूर्ति की पूजा नहीं करते अपितु उसमें व्यापक परमात्मा की पूजा करते हैं।"

उपर्युक्त युक्ति केवल कथन मात्र है। एक मूर्ति पूजक का व्यवहार इसके सर्वथा विपरीत होता है। यह सत्य है कि ईश्वर सर्वव्यापक होने के कारण मूर्ति मे भी है। परन्तु व्यापक होने से प्रत्येक व्याप्य वस्तु पूजनीय नहीं हो जाती। परमात्मा फूल में है फिर उसे मूर्ति पर क्यो चढ़ाया जाता है ? जल मे है फिर स्नान क्यों कराते हो ? चन्दन मे है फिर मूर्ति पर चन्दन क्यों लगाते हो ? भोजन मे है—भोग क्यों लगाते हो ? हाथों में है हाथ क्यों जोड़ते हो ? अत एक मूर्तिपूजक का लक्ष्य मूर्ति मे व्यापक परमात्मा की उपासना होता तो वह उपर्युक्त समस्त क्रियाकलाप का आश्रय न लेता। वह मूर्ति को ईश्वर समझ कर उसकी पूजा करता है उसमें व्यापक परमात्मा की नहीं। मूर्तिपूजा के जन्मदाता, स्वयं पुराण इस युक्ति का स्थान-स्थान पर खण्डन करते हैं। भविष्य पुराण मध्यम प० अ० ७ का निम्न श्लोक देखिए —

वासुदेवाग्रतश्चापि रुद्रमाहात्म्यवर्णनम्।
रुद्राग्रे वासुदेवस्य कीर्तन पुण्यवर्धनम्॥
दुर्गाग्रे शिवसूर्यस्त वैष्णवाख्यानमेव च।
य करोति विमूढात्मा गार्दभीं योनिमाविशेत्॥

अर्थ स्पष्ट है—जो मनुष्य वासुदेव की मूर्ति के आगे शिव की स्तुति करता है और शिव के आगे वासुदेव का कीर्तन करता है, दुर्गा के आगे शिव, सूर्य या विष्णु की स्तुति करता है वह मूर्ख गधे की योनि में जाता है। यदि मूर्ति पूजा का उद्देश्य मूर्ति में व्यापक ईश्वर की पूजा होता तो एक देवता के समक्ष दूसरे देवता की स्तुति-प्रार्थना का निषेध पुराण न करते।

पूजा का उद्देश्य जीवात्मा और परमात्मा का मेल है। इसी मेल का नाम योग है। किन्तु मिलाप वहीं हो सकता है जहाँ

दोनों विद्यमान हैं। मूर्ति में परमात्मा अवश्य है किन्तु उपासक का जीवात्मा नहीं। ऐसा स्थान जहाँ जीव और ब्रह्म दोनों ही उपस्थित हों केवल मनुष्य का हृदय है। इसी हृदय मन्दिर में जीव उस ब्रह्म का साक्षात् कर सकता है। वेद और उपनिषद् इसी सत्य का निरूपण करते हैं।

वेतस्तत्पश्यन मनसा गुहायाम्। यजु० ३२। ८

विद्वान् पुरुप परमात्मा को हृदय में देखते हैं।

तमात्मस्थमनुपश्यन्ति धीरास्तेषाँ सुखंशाश्वतं नेतरेपाम्। १२ पञ्चम वल्ली कठोपनिषद्।

जो धीर पुरुष जीवात्मा में स्थित परमात्मा को देखते हैं उनको चिरकाल तक रहने वाला सुख प्राप्त होता है, अन्यों को नहीं।

(६)

विद्वान् और ज्ञानियों के लिये चाहे मूर्ति पूजा की उपयुक्तता न हो परन्तु जन साधारण के लिए उसकी आवश्यकता है। पाश्चात्य शिक्षा एव सभ्यता के प्रसार से शिक्षित हिन्दू युवक वैसे ही ईश्वर और धर्म से विमुख होता चला जा रहा है। यदि मूर्ति पूजा और मन्दिरों को हटा दिया गया तो हिन्दुओं की ईश्वर और धर्म में अवशिष्ट श्रद्धा और भी नष्ट हो जायगी और लोग नास्तिक बन जायेंगे। अत मूर्तिपूजा को जीवित रहने देने की आवश्यकता है 'न होने से कुछ होना अच्छा है।'

मूर्ति पूजा को जन साधारण के लिये उपयुक्त बताना और उसके लिए उसे जीवित रखने की युक्ति एक उल्टी बात है। मूर्ख को शिक्षा न देकर मूर्ख ही रखना एवं रोग की चिकित्सा न करके उसे बनाए रखने का प्रयत्न यदि उचित है तो इस युक्ति का भी औचित्य स्वीकार किया जा सकता है। जनसाधारण मे धार्मिक

भावनाओं का अभाव नहीं है। मनुष्य की स्वभाव से ही धार्मिक प्रवृत्ति होती है। यदि उन्हें ईश्वोरोपासना की सच्ची विधि का परिज्ञान करा दिया जाय तो वे धीरे धीरे उन्नतावस्था को प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु पाधा, पण्डे और पुजारी न जाने कितनों का स्वार्थ इस कार्य में बाधक है। यह लोग इन्हे अन्धकार मे रखने का प्रयत्न करते रहते हैं। उन्हें उपदेश दिया जाता है कि मूर्ति के हाथ जोड़ो और अपना चढ़ावा उसके अर्पण करदो। बस यही पूजा है। इसी उद्देश्य से तीर्थों के पण्डे सैकड़ों मील मे यात्रियों का पीछा करते हैं। क्या इसी का नाम धर्म है जिसके लिए मूर्तिपूजा को जीवित रखने की आवश्यकता है? क्या इसी प्रकार के ईश्वर-विश्वास से हिन्दू समाज की रक्षा हो सकती है?

ईश्वरोपासना और धर्म का उद्देश्य मनुष्य की आत्मा और बुद्धि को ऊंचा उठाना है। परन्तु मूर्ति पूजा एक ऐसी विधि है जो मनुष्य समाज को सदा मूर्ख बनाए रखना चाहती है। यह उपासक को अन्ध विश्वासी और भीरु बना देती है। यही कारण है कि शताब्दियों के अज्ञान और अन्धकार के पश्चात् भी जन-साधारण का जीवन मूर्तियों के निरन्तर सम्पर्क में रहने वाले पण्डे पुजारियों से आज श्रेष्ठतर है। सबसे बड़ी हानि जो एक मूर्तिपूजक कर रहा है, उसकी अपनी निजी हानि है। वह एक असत्य मार्ग पर जा रहा है और उसी में सन्तुष्ट है। वह समझता है कि मैं ईश्वर की पूजा कर रहा हूँ और अपने समस्त जीवन को इसी अन्ध विश्वास में व्यतीत कर देता है। वास्तविक हानि जो इससे हो रही है वह सर्व साधारण की है। शिक्षित समुदाय अपने बुद्धि-बल से इन पण्डों और पुजारियों से अपनी रक्षा करते रहते हैं। किन्तु हमारा अशिक्षित समुदाय ही है जो इनके द्वारा बुरी तरह लूटा जाता है। क्या उनके लिए

मूर्तिपूजा का यही उपयोग है ? मुसलमान, ईसाई मूर्तिपूजक नहीं हैं। क्या इनका साधारण जन-समाज नास्तिक है ? सत्य तो यह है कि इनकी आस्तिक भावना हिन्दुओं से कहीं अच्छी है। मूर्ति पूजा स्वयं नास्तिकता है। अत यह समझना कि इसके द्वारा आस्तिक भावना जीवित रह सकती है एक दूसरा भ्रम है। जिस प्रकार एक राजसत्ता की विद्यमानता में दूसरी सत्ता की आधीनता एवं आज्ञा पालन राज विद्रोह है, ठीक उसी प्रकार ईश्वर की उपस्थिति मे जड़ मूर्ति को ईश्वर समझना और पूजना ईश्वर विद्रोह है, और उसी का दूसरा नाम नास्तिकता है। यदि शिक्षित युवक समाज आज ईश्वर और धर्म से ऊब कर नास्तिकता की ओर जा रहा है तो उसका कारण भी इसी प्रकार के कल्पित ईश्वर और उसकी पूजा का विधि-विधान है।

हमने ईश्वर और धर्म के कल्पित और असत्य रूप का प्रचार किया, यह उसी का फल है। मूर्ति पूजा से हिन्दू जाति को जो हानि हुई है उनका वर्णन हमने इस पुस्तक में स्थान-स्थान पर किया है। अत हम यहाँ उनकी पुनरावृत्ति नहीं करना चाहते। यह ठीक है कि न होने से कुछ होना अच्छा है किन्तु उसके औचित्य-अनौचित्य पर भी तो हमे विचार करना है। यदि उससे हमारा अनिष्ट होता है तो उससे न होना कहीं अच्छा है। कोई इसलिए किसी विषैले पदार्थ को नहीं खाएगा, क्योंकि उसके पास खाने के लिए कोई सामग्री नहीं थी। और यदि वह ऐसा करता है तो उसकी मृत्यु निश्चित है। मूर्ति पूजा एक उलटा मार्ग है। इस पर चल कर हम अपने अभीष्ट को कभी प्राप्त नहीं कर सकते। यह हमको अपने निर्दिष्ट स्थान से सदा दूर ही ले जायगी।

मूर्ति, शिवलिङ्ग की लज्जास्पद आकृति भय और लज्जा के अतिरिक्त क्या कभी श्रद्धा और भक्ति के भाव उत्पन्न कर सकेगी ? अत ये हमारे संस्कार हैं, जो एक मूर्ति अथवा मन्दिर को देख कर हमारे अन्दर श्रद्धा और भक्ति का भाव उत्पन्न करते हैं।

(६)

"मूर्तिपूजा अपने महान् पूर्वजो की पूजा है। क्या महापुरुषों की पूजा भी पाप है ? सभी जातियाँ अपने पूर्व महापुरुषों की किसी न किसी रूप मे पूजा करती हैं। मुसलमान और ईसाइयों में भी इस प्रकार की पूजा प्रचलित है। इससे सिद्ध है कि मूर्ति पूजा मनुष्य के हृदय मे बीजरूप से विद्यमान है, और उसे उससे सर्वथा दूर नहीं किया जा सकता।"

इस पर विचार करने से पूर्व मूर्ति और पूजा इन दो शब्दों को भली भाँति समझ लेना चाहिए। आकार व शरीर वाली वस्तु को मूर्ति कहते हैं। उसके दो प्रकार हैं—जड़ या चेतन समस्त जीवधारी चेतन मूर्तियाँ हैं और चेतना रहित जड़ पदार्थ जड़ मूर्तियाँ हैं। पूजा का अर्थ आदर—सत्कार है। व्यावहारिक रूप मे इसके अर्थ उचित व्यवहार और रक्षा के भी हैं। अत जब हम यह कहते हैं कि माता, पिता, गुरु आदि हमारे पूज्य हैं, अथवा हमें उनकी पूजा करनी चाहिए, तो इसका अभिप्राय उनकी अन्न जल वस्त्रादि से सन्तुष्टि तथा सेवा-सुश्रूषा एवं आज्ञापालन द्वारा उन्हें सुखी रखना है। किन्तु एक जड वस्तु की पूजा उसकी उचित रक्षा एवं व्यवहार ही है, उसके हाथ जोड़ना, स्तुति करना अथवा भोग लगाना नहीं, क्योंकि न वह सुनती है, और न खाती है। इसलिए एक मूर्ति की चेतन की भाँति पूजा करना एक ज्ञानशून्य कृत्य है। हिन्दू गङ्गा नदी की आरती उतारते हैं, स्तुति करते हैं,

जल में दूध चढ़ाकर उसे नष्ट करते हैं। रेलगाड़ी जब पुल पर से जाती है तो उसमें से पैसे फेंकते हैं किन्तु बाढ़ आने पर यही गङ्गा उनके ग्रामों के ग्राम बहा ले जाती है। अङ्गरेज लोगों ने हिन्दुओं की भाँति इसकी पूजा नहीं की किन्तु नहर तथा बिजली आदि बना कर इसका सदुपयोग किया, और लाभ उठाया है। अब कहिए गङ्गा ने किस पर कृपा की ? हिन्दुओं की प्रचलित मूर्तिपूजा को पूर्व पुरुषों की पूजा बताना या समझना या तो इन दोनों के भेद को न समझना है, अथवा वाक् छल है। पूर्व पुरुषों की पूजा अथवा उनकी मूर्ति वा चित्र का यथायोग्य व्यवहार कोई पाप नहीं है। आप उनके चित्रों से अपने स्थानों को सुसज्जित कीजिए, उनकी मूर्तियां (Statues) रखिये अथवा सार्वजनिक स्थानों पर उनकी स्थापना कीजिए जिससे उनको देखकर उनके आदर्श जीवन एवं सदुपदेशों की स्मृति हो सके और उनके पदचिन्हों पर चलने का प्रोत्साहन मिल सके। किन्तु उनके प्रति चेतन जैसा व्यवहार—मानो जीवित हैं—अथवा उन्हे ईश्वर समझ बैठना और ईश्वर के स्थान में पूजना अज्ञान और नास्तिकता है। मुसलमान मूर्ति पूजा के विरोधी होते हुए भी काबा के काले पत्थर (सङ्गे असवद) को चूमते हैं और इसके प्रति आदरभाव रखते हैं। अरब के मुसलमान भी जैसा पूर्व लिखा जा चुका है, मूर्ति पूजक थे। उनकी उपासना विधि (नमाज़) में शिर झुकाना (सजदा) यह सिद्ध करता है कि केवल उनके सामने की मूर्ति हटाली गई है किन्तु प्रकार अभी वही है। इस भाँति उनके पुराने संस्कार किसी न किसी रूप में चले आ रहे हैं। इसी प्रकार उन्होंने जीवन-मृत्यु के प्रश्न को भी नहीं समझा। वे समझते हैं कि मृत्यु के पश्चात् शरीर के साथ जीव भी कब्र में रहता है। और यही समझ कर वे अपने

पूर्वजो की क़ब्रो पर स्तुति और प्रार्थना करते हैं। परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी मुसलमान एकेश्वरवादी है, और ईश्वर के स्थान पर किसी दूसरे की पूजा नहीं करते।

रोमन कैथोलिक ईसाई, ईसा, मरियम आदि की पूजा करते हैं किन्तु प्रोटेस्टैण्ट ईसाई उसे ईसाई धर्म के विरुद्ध समझते हैं। ईसा ने स्वय मूर्तिपूजा का खण्डन किया है। कुछ योरुप-निवासियों मे पुराने मूर्तिपूजा के सस्कार जीवित रहे और अन्य देवताओं के स्थान पर उन्होंने ईसा और उसकी माता मरियम की पूजा प्रचलित करदी।

जब किसी मनुष्य या जाति के हृदय मे प्रबल कुसंस्कार घर कर लेते है तो उन्हे निर्मूल करना कोई सरल बात नहीं है। किन्तु बुराई, बुराई ही है। पुरानी होने से उसके दोष गुणो मे परिणत नहीं हो सकते। किसी रोग की भयङ्करता इसलिये कम नहीं हो जाती, क्योंकि उससे बहुत से मनुष्य पीड़ित हैं, ऐसा रोग तो महामारी है, और उसका शीघ्र से शीघ्र उन्मूलन होना चाहिए। योरुप, अमरीका आदि पाश्चात्य देशो मे बड़े-बडे नगरों के सार्वजनिक स्थानो में उनके महापुरुषो की जिस भांति मूर्तियाँ स्थापित की गई हैं, वही महापुरुषों की मूर्तियों की उपयुक्त पूजा है। हमारे देश में भी देश के नेताओ की इसी प्रकार की मूर्तियाँ स्थापित करने की प्रथा चल पड़ी है। किन्तु यह उसी अवस्था मे लाभप्रद है जब हम उनका उचित उपयोग करें। यदि राम कृष्णादि महान पुरुषो की मूर्तियो की तरह इनका भी दुरुपयोग हुआ तो इनसे भी हानि ही होगी। महात्मा गान्धी की मूर्ति और समाधि का कुछ ऐसा ही दुरुपयोग महात्मा जी की इच्छा और सिद्धान्तो के विरुद्ध उनके भक्तो द्वारा, जिनमे हमारे देश के बडे-बडे नेता भी है, प्रारम्भ हो चला है जिसे रोकने की बड़ी आवश्यकता है।

(१०)

"जब महापुरुषों की मूर्तियाँ देखकर हमें उनकी स्मृति हो जाती है तो राम, कृष्णादि की मूर्तियाँ देखकर जो ईश्वर के अवतार थे-परमात्मा की स्मृति क्यों नहीं हो सकती ?"

इसी पुस्तक में अन्यत्र यह सिद्ध किया जा चुका है कि न ईश्वर अवतार लेता है और न इसकी आवश्यकता है। राम, कृष्णादि महापुरुषों की मूर्तियाँ स्थापित करने में तो कोई हानि नहीं, किन्तु उन्हें जीवित पुरुषों की भाँति पूजना अथवा उनमें ईश्वर की भ्रान्ति रखना अज्ञान और पाखण्ड है। इससे देश और जाति की हानि ही हानि है। लाभ कुछ नहीं।

(११)

"मूर्तिपूजा ईश्वर-प्राप्ति की प्रथम सीढ़ी है।"

यह उपमा भी भ्रमपूर्ण है। सीढ़ी पर चढ़कर मनुष्य उत्तरोत्तर ऊँचा उठता है। परन्तु मूर्तिपूजा जैसा कि हम सिद्ध कर चुके हैं—पतन की ओर ले जाती है। इसके अतिरिक्त एक मूर्तिपूजक आजीवन मूर्तिपूजक ही बना रहता है। यह बात दूसरी है कि उसका विश्वास मूर्तिपूजा से किसी प्रकार स्वयं हट जाय अथवा हटा दिया जाय। चेतन प्राणिमात्र की निष्काम सेवा, विद्वान आप्त पुरुषों का आदर-सत्कार तथा सत्सङ्ग एवं यम नियमादि का पालन तो ईश्वर-प्राप्ति की सीढ़ियाँ हो सकती हैं किन्तु मूर्तिपूजा तो एक गहरी खाई है जो मानव समाज को रसातल की ओर ले जाती है। यह एक ऐसा अन्ध विश्वास है जो मानव-हृदय को पाषाण एवं बुद्धि को ज्ञानशून्य बना देता है।

(१२)

"वेदान्त का सिद्धान्त है कि सारा ही संसार ब्रह्म है। जब

सारा ही संसार ब्रह्म है पुन मूर्ति को ब्रह्म मानने मे क्या दोष है ?"

यह सारा जगत् ब्रह्म है यह सिद्धान्त वेदान्त-दर्शनकार का नहीं है। वह जीव और ब्रह्म के भेद का बलपूर्वक प्रतिपादन करता है। हाँ, श्री शङ्कराचार्य का ऐसा मत था और उन्हीं के अनुयायी जीव-ब्रह्म की एकता पर विश्वास रखते हैं। श्री माधवाचार्य ने अपने वेदान्त भाष्य मे इस सिद्धान्त का प्रबल खण्डन किया है। इस विषय का हमारे प्रस्तुत विषय से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस सिद्धान्त को मान भी लिया जाय तो उपास्य और उपासक मे जब भेद ही नहीं तो उपासना किसकी और क्यो ? मूर्ति को ब्रह्म मानने और न मानने का तो प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। इस पर भी यदि इस सिद्धान्त के मानने वाले उपासना की आवश्यकता का अनुभव करते हैं तो श्री शङ्कराचार्य ने मूर्तिपूजा का स्वयं खण्डन किया है अतएव इस युक्ति का दोनो ही प्रकार से कोई महत्त्व नहीं रहता।

(१३)

"जिस प्रकार हमने निराकार अक्षरों के लिए साकार अक्षरों की कल्पना करली है और जिस भाँति हम रेखागणित के आकार रहित बिन्दु की कल्पना एक सूक्ष्म बिन्दु लगाकर कर लेते हैं उसी प्रकार यदि निराकार ईश्वर के लिए साकार मूर्ति की कल्पना करलें तो इसमें क्या हानि है ?"

कल्पना किसी वस्तु के अभाव अथवा अनुपस्थिति मे की जाती है। साकार अक्षरों की कल्पना केवल निराकार अक्षरों या शब्दों के अभाव मे उनकी पूर्ति के लिए की जाती है। यदि हमारे शब्द सर्वत्र और सदा सुने जाते तो हमे न साकार

अक्षरों की कल्पना की आवश्यकता थी, और न लेखनकला की। परमात्मा सर्वव्यापक और सार्वकालिक है, अत उसके लिए किसी दूसरी वस्तु की कल्पना का प्रश्न ही नहीं उठता। यदि कहो कि दिखाई नहीं पड़ता इसलिए कल्पना करने की आवश्यकता है। परन्तु केवल दिखाई न पड़ने से किसी वस्तु का अभाव नहीं हो जाता। आकाश और शब्द दोनों ही दिखाई नहीं पड़ते परन्तु उनका अभाव नहीं है। कल्पित वस्तु मे और जिस वस्तु का वह कल्पना है कुछ सादृश्य होना चाहिये। अक्षर-विज्ञानवेत्ता जानते हैं कि साकार अक्षर निराकार अक्षरों की मूर्ति नहीं है अपितु उच्चारण के समय जो ओष्ठ आदि की आकृति बनती है उसकी ही कल्पना है और वर्तमान समस्त भाषाओं की वर्णमालाएँ उन्ही का अपभ्रंश रूप हैं। इसी प्रकार एक बिन्दु उसी समय तक रेखागणित के बिन्दु के सदृश समझा जायगा जब वह सूक्ष्म से सूक्ष्म हो। एक बड़े गोलाकार चिन्ह को कभी कोई बिन्दु कहने या मानने के लिये उद्यत नहीं होगा। एक हाथी के बृहदाकार की आप पहाड़ से उपमा दे सकते हैं किन्तु एक जलाशय में उसकी कल्पना नहीं की जा सकती, यद्यपि दोनों ही साकार हैं। ईश्वर और पाषाण-मूर्ति मे लेशमात्र भी सादृश्य नहीं है। मूर्तियां प्राय निराकार ईश्वर की कल्पना करके बनाई भी नहीं गई, अपितु मनुष्यों को ईश्वरावतार समझ कर उनकी कल्पना कर डाली गई है। निराकार शब्द आँख से नहीं देखा जाता, अपितु कान से सुना जाता है। सुविधा के लिये कानों के विषय को साकार अक्षरों की कल्पना द्वारा आँखों का विषय बना लिया गया है। परन्तु जो परमात्मा किसी इन्द्रिय का विषय नहीं है उसे समझाने के लिये उसे किस इन्द्रिय का विषय बनाया जाये ? वह तो केवल अनुभूति की ही वस्तु रह जाती है।

(१४)

"जिस प्रकार काल के निराकार होने पर भी साकार घड़ी से निराकार घड़ी का ज्ञान हो जाता है, इसी प्रकार मूर्ति द्वारा परमात्मा का ज्ञान हो सकता है।"

घड़ी एक यंत्र है जिसके द्वारा हम सूर्य के सन्मुख पृथ्वी के एक बार घूमने से उत्पन्न होने वाले दिन और रात्रि के समय को माप करके उसका विभाजन कर देते हैं। घड़ी न काल की मूर्ति है और न जब तक सूर्योदय और सूर्यास्त के अनुसार उसे ठीक ठीक मिलाया जाय, काल का ज्ञान ही करा सकती है। बन्द घड़ी द्वारा समय-ज्ञान तो दूर, हम उससे समय का माप भी नहीं कर सकते। अत घड़ी को किसी अंश में सूर्य की मूर्ति तो कह सकते हैं, क्योंकि उसका सारा क्रम सूर्य पर निर्भर है परन्तु वह निराकार काल की मूर्ति कदापि नहीं।

(१५)

"जैसे मानचित्र (नकशा) को देखकर पहाड़ तथा नदी का ज्ञान बालकों को हो जाता है इसी प्रकार मूर्ति को देखकर ईश्वर का ज्ञान हो जाता है।"

पहाड़, नदी, पृथ्वी आदि सभी साकार वस्तुएँ है। मानचित्र उनका लघु रूप है। यह असत्य अथवा असम्भव कल्पना नहीं। किन्तु परमात्मा निराकार है, ऐसी अवस्था मे उसकी मूर्ति अथवा चित्र की कल्पना नहीं की जा सकती।

(१६)

"शब्द निराकार है किन्तु उसे ग्रामाफोन के रिकार्ड मे भर कर मूर्तिमान बना लिया जाता है। इसी भांति निराकार परमात्मा की भी मूर्ति क्यों नहीं बनाई जा सकती?"

शब्द, चाहे हम उसे कण्ठ से व्यक्त करे चाहे ग्रामाफोन के

(Sound box) शब्द यंत्र और रिकार्ड की सहायता से वह निराकार ही रहेगा। अन्तर केवल प्रकार का है। मनुष्य उसका उच्चारण जहाँ कण्ठादि की सहायता से करता है वहाँ ग्रामाफोन में कुछ यंत्रों की सहायता से किया जाता है। परन्तु हैं दोनों ही निराकार।

(१७)

"जैसे एक कागज के टुकड़े अथवा धातु के सिक्के पर किसी राजा, महाराजा का चित्र बना देने से वह मूल्यवान् बन जाता है, इसी प्रकार एक मूर्ति परमात्मा की मान लेने पर वह पूजनीय हो जाता है।"

एक करेन्सी नोट, हुण्डी अथवा सिक्का इसलिये मूल्यवान् नहीं हो जाता कि उस पर किसी सम्राट् का चित्र है अथवा मुहर या हस्ताक्षर है। उसका मूल्य राज्य की साख पर निर्भर है। राज्य उस मूल्य को चुकाने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेता है। यही कारण है कि जिस प्रकार एक व्यापारी का दिवाला निकल जाने पर उसकी हुण्डी एक रद्दी कागज का टुकड़ा रह जाती है, ठीक इसी प्रकार राज्य के परिवर्तन पर उस करेन्सी नोट का कुछ भी मूल्य नहीं रहता। परमात्मा निराकार है उसकी कोई आकृति या मूर्ति ही नहीं। अत जिस प्रकार जाली सिक्का प्रचलित करने पर राज्यदण्ड मिलता है उसी प्रकार क्या मूर्तिपूजक दण्डनीय नहीं ठहरते?

(१८)

"मूर्ति परमात्मा का शरीर है. शरीर की पूजा करने से शरीर प्रसन्न होता है, अत मूर्तिपूजा ठीक है।"

न्यायदर्शन, "चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्" —क्रिया, इन्द्रियाँ, अर्थ इनके आश्रय को शरीर बताता है। मूर्ति में कोई भी शरीर

का लक्षण नहीं। यदि यह कहो कि जिस प्रकार ब्रह्माण्ड को परमात्मा का शरीर माना गया है उसी प्रकार मूर्ति भी परमात्मा का शरीर है, परन्तु ब्रह्माण्ड को शरीर बताना केवल एक रूपक अलङ्कार है, वास्तविकता नहीं। केवल व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध से मूर्ति परमात्मा का शरीर नहीं हो सकती अन्यथा हमारा शरीर भी परमात्मा का शरीर हो जायगा। तब हम अपने शरीर की ही पूजा करके परमात्मा को प्रसन्न कर सकते है, मूर्ति की आवश्यकता ही नहीं रहती। या फिर समस्त पदार्थ ही परमात्मा के शरीर हैं, मूर्ति का झगड़ा ही व्यर्थ है।

(१९)

"जैसे अग्नि के निराकार और साकार दो रूप हैं उसी प्रकार परमात्मा के भी निराकार और साकार दो रूप हैं। इसीलिए निराकार परमात्मा की निर्गुण और साकार परमात्मा की सगुणोपासना की जाती है। सगुणोपासना का ही दूसरा नाम मूर्तिपूजा है।"

अग्नि का स्वाभाविक गुण रूप है। जिसका रूप स्वाभाविक गुण हो वह कभी भी निराकार नहीं हो सकता। शास्त्रों मे अग्नि की दो अवस्थाए वर्णन की हैं एक उद्भूत दूसरी अनुद्भूत जब अग्नि के अवयव अलग-अलग हो जाते हैं तो दिखाई नहीं देते। किन्तु जब रगड़ आदि से प्रकट होते हैं तो दिखाई देते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि वे दिखाई न देने के कारण निराकार है। दूध में घी दिखाई नहीं पड़ता और न तिलों मे तेल दीखता है—बिलौने से अथवा पेरने से उनमें घी व तेल प्रकट हो जाता है। तो इसका यह तात्पर्य नहीं कि घी व तेल पहिले नहीं था या पीछे उत्पन्न हो गया। जो वस्तु निराकार है वह सदा निराकार ही रहेगी। पुन जैसा कि पूर्व लिखा

जा चुका है, दो विरोधी गुण एक वस्तु में एक साथ नहीं रह सकते। अतएव परमात्मा को या तो निराकार मानो या साकार यदि कहो कि निराकार है किन्तु कभी साकार भी हो जाता है, तो प्रथम निराकार वस्तु साकार होती ही नहीं। थोड़ी देर के लिए यदि मान भी लें तो सरकार होने पर परमात्मा निराकार नहीं हेगा और एकदेशीय हो जायगा। एकदेशीय हो जाने पर सर्वव्यापक नहीं रहेगा न सर्वान्तर्यामी। सर्वव्यापक और सर्वान्तर्यामी न रहने पर कर्म-फलदाता भी नहीं रहता और न सृष्टि को नियम मे चला सकने की शक्ति रख सकेगा। फिर साकार से आपका तात्पर्य क्या है? क्या वह जड पदार्थों की भाँति आकार वाला हो जाता है? यदि ऐसा है तो उसमे और चेतना रहित जड़ वस्तु में क्या अन्तर रह गया? यदि कहो कि जीव की भाँति निराकार तो रहता है किन्तु शरीर भी धारण कर लेता है। तब भी शरीर द्वारा जो विकार उत्पन्न होते हैं वे सब ही उसे भोगने पडे गे, और वह निर्लेप और निर्विकार नहीं रहेगा। शरीर कर्मों का फल है अतएव वह कर्म बन्धन से भी मुक्त नहीं हुआ। ऐसी अवस्था में वह परमात्मा रहता ही नहीं, अपितु जीव बन जाता है। ईश्वर का अवतार मानने पर होता भी ऐसा ही है। निर्गुण और सगुणोपासना के भी वह अर्थ नहीं हैं जो आपने समझे हैं। क्या निराकार होने पर परमात्मा गुणरहित हो जाता है? निराकार वस्तु में जितने गुण होते हैं उतने साकार वस्तु में नहीं होते। जीव निराकार है उसमें कितने गुण और कितनी शक्ति विद्यमान है? स्वयं जितने भी गुण हैं वे सब ही निराकार हैं। इसी प्रकार साकार वस्तु भी केवल साकार होने से सगुण नहीं हो जाती। वास्तव में जब हम परमात्मा के न्यायकारी, दयालु, आनन्दस्वरूप आदि धनात्मक गुणों

को हृदय में धारणा वा चिन्तन करते हैं जिससे हम भी उन गुणों को धारण कर सकें तो उसे सगुणोपासना कहते हैं। इसी प्रकार जब हम ईश्वर के अजर, अमर, अनादि, अनन्त आदि ऋणात्मक गुणों को हृदय में धारण करते हैं, तो वह निर्गुणोपासना है। निर्गुणोपासना के प्रभाव से उपासक मे निर्गुणता आती है। यदि ईश्वर अमर है तो वह भी अमर हो जाता है। उसके प्रभाव से उपासक के अन्दर जैसा कि सगुणोपासना में होता है, कुछ आता नहीं अपितु कुछ जाता है। किन्तु इस जाने से उसे आनन्द और शान्ति प्राप्त होती है। कठोपनिषद् के निम्न मन्त्र मे यही भाव स्पष्ट शब्दों मे व्यक्त किये हैं—अशब्दमस्पर्शम-रूपमव्ययम तथाऽरसन्नित्यमगन्धवच्च यत्। अनाद्यनन्तम्महत पर ध्रुव निचाय्य तन्मृत्युमुखात प्रमुच्यते। कठ० १। ३। १५॥

अर्थात ईश्वर अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस, अगन्ध, अनादि, अनन्त है। इस प्रकार उस महान परम ध्रुव का निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त करने से मनुष्य मृत्यु के मुख मे छूट जाता है।

(७०)

लड़कियां पहले गुड़िया खेलती है। परन्तु विवाह होने पर उसे छोड़ देती हैं। ऐसे ही पहले हम मूर्तिपूजा करते है। जब ईश्वर मिल जायगा तो छोड़ देंगे।

"तुलसी प्रतिमा पूजिबो, है गुड़ियन को खेल।
जब पहुँचे ससुराल में, देय पिटारे मेल॥"

जिस प्रकार मूर्तिपूजा ईश्वर-प्राप्ति का साधन समझा जाता है, उसी प्रकार गुड़ियों का खेल विवाह का साधन नहीं है। यदि ऐसा होता तो सब माता-पिता लड़कियों के विवाह की

चिन्ता से मुक्त हो जाते। गुड़ियों का खेल वास्तव में बच्चों के मन बहलाव की वस्तु है। क्या मूर्तिपूजा भी मन बहलाव की वस्तु है? उस कन्या के लिए क्या कहा जायगा जो बुड्ढी हो गई है किन्तु गुड़ियों से ही खेलती है। लोग बुड्ढे हो जाते हैं किन्तु उनसे गुड़िया रूपी मूर्तिपूजा नहीं छूटती। सत्य तो यह है कि एक मूर्तिपूजक का अमूल्य धन और समय इसी खेल मे व्यतीत हो जाता है, और यह अभागा यह ही समझता रहता है कि वह इसके द्वारा ईश्वर के निकट पहुँच रहा है। एक बच्चा भी गुड़ियों के खेल को खेल ही समझता है परन्तु एक मूर्तिपूजक बुड्ढा होने पर भी मूर्तिपूजा को ईश्वर-पूजा समझता है। इस अज्ञान के लिए क्या कहा जाय?

(२१)

"मूर्तिपूजा में कुछ गुण न सही किन्तु वह हमारे पूर्वजों की देन है जो सैकड़ों वर्षों से चली आ रही है। इसलिये धर्म समझ कर न सही, एक प्राचीन प्रथा समझ कर ही उसे प्रचलित रखने में कोई दोष प्रतीत नहीं होता।"

इस पुस्तक में जैसा कि हमने स्थान-स्थान पर सिद्ध किया है, मूर्तिपूजा हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों की देन नहीं है। महाभारत के पश्चात इस देश के अधःपतन के साथ-साथ पौराणिक काल में इसका जन्म हुआ। यह सब कुछ होते हुए भी कोई प्रथा इसलिए अनुकरणीय नहीं होती क्योंकि वह परम्परा से चली आ रही है। हमें तो उसके गुण-दोषों पर विचार करना है। जो समाज किसी बुराई से इसलिये चिपटा रहता है क्योंकि उसके पूर्वज भी ऐसा करते चले आये है, वह शीघ्र नष्ट होजाता है। जिस प्रकार पौदों के निकट उग रहे हुए झाड़-झंकारों को काट फैंकना आवश्यक है, उसी प्रकार

किसी समाज के उत्थान के लिये उसमे उत्पन्न होने वाली कुरीतियों को दूर करना अनिवार्य है। मूर्तिपूजा से हिन्दू-जाति को हानि हुई है, उसका दिग्दर्शन इस पुस्तक मे कराया है। ऐसी कुप्रथा को जिसने हमारे समस्त मानसिक एव सामाजिक जीवन को खोखला कर दिया है उसे इसलिये जीवित रखना कि वह कुछ शताब्दियों से एक जोंक की भाति हमसे चिपट गई है, आत्मघात के सदृश है।

(२२)

"मूर्तिपूजा वर्तमान हिन्दू-धर्म की आत्मा के तुल्य है। उसे बिना घोर क्रान्ति उत्पन्न किये नष्ट नहीं किया जा सकता। परन्तु ऐसा करने से हिन्दू-जाति मे प्रबल उथल-पुथल एव पारस्परिक मनोमालिन्य उत्पन्न होने का बड़ा भय है, जो सङ्गठन एव राष्ट्रोन्नति मे बाधक सिद्ध होगा। अतएव हानि-प्रद होते हुए भी मूर्तिपूजा के विरुद्ध कुछ कहना कम से कम वर्तमान परिस्थिति मे उचित प्रतीत नहीं होता।"

इसमे कोई सन्देह नहीं कि मूर्तिपूजा वर्तमान पौराणिक हिन्दू-धर्म की जान है। हिन्दू-धर्म का समस्त ताना-बाना इसी से पूरित है। यह भी सत्य है कि इसे विनष्ट करने के लिये प्रबल क्रान्ति की आवश्यकता है। परन्तु क्रान्ति के भय से किसी सुधार को स्थगित नहीं किया जा सकता। रोग जितना भयानक होगा उसे दूर करने के लिये उतने ही प्रबल उपचार की आवश्यकता होती है। इस भय से कि शस्त्र-चिकित्सा में रोगी को कष्ट होगा उपचार रोका नहीं जा सकता। मूर्तिपूजा ने ही जैसा कि हम सिद्ध कर चुके हैं, आर्य-जाति की स्वाधीनता एव सङ्गठन पर कुठाराघात किया है। मूल कारण को दूर किये बिना जिस प्रकार रोग दूर नहीं हो सकता, वैसे ही मूर्तिपूजा जो हिन्दू-जाति को विभाजित एवं पराधीन बनाने का मूल कारण है, जब तक

दूर नहीं होती हिन्दू-सङ्गठन एवं राष्ट्रोन्नति के स्वप्न देखना एक दुराशा-मात्र है। क्रान्ति चाहे वह राजनैतिक हो चाहे धार्मिक कभी सुख-साध्य नहीं हो सकती। इसमें कष्ट, विरोध, यातनाएं सभी कुछ सहन करनी पड़ती हैं। परन्तु क्रान्ति जीवन का चिन्ह है इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। देश की स्वाधीनता के नाम पर धार्मिक एवं सामाजिक सुधारों की अवहेलना भी अदूरदर्शिता है। भारतवर्ष की पराधीनता का मूलकारण धार्मिक एवं सामाजिक था, राजनीतिक नहीं।

राजनैतिक सुधार पहिले, धार्मिक और सामाजिक पीछे, यह प्रस्ताव जिन लोगों की ओर से रखा जाता है, हम उनसे पूछते हैं कि उन्होंने यह कैसे निश्चय कर लिया कि राजसत्ता जिन लोगों के हाथ में आती है वे सभी सुधारवादी होते हैं? विधान-सभा का निर्वाचन जन-साधारण ही करते हैं जब तक वे स्वयं सुधरे हुए नहीं होंगे, सुधार-प्रिय प्रतिनिधियों का निर्वाचन असम्भव है। यह कार्य तो फिर भी उन ही को करना होगा जो इन सुधारों की आवश्यकताओं का अनुभव करते हैं। राजसभाएं भी ऐसे सुधारों में हाथ डालने से भयभीत रहती हैं जिन्हें जन-साधारण का समर्थन प्राप्त न हो। इतिहास इस बात का साक्षी है कि राजसत्ता हाथ में आने पर भी धार्मिक एवं सामाजिक कलहों के कारण हम उसे स्थिर नहीं रख सके।

(२३)

"हिन्दूधर्म में बहुदेवतावाद नहीं है। प्रत्येक मन्दिर में यदि आप उपासक के निकट खड़े होकर उसकी स्तुति-प्रार्थना को सुनें तो आप पायेंगे कि वह परमात्मा के निराकार आदि सब ही विशेषणों का उस मूर्ति के लिये उपयोग करता है।"

हम अनेक प्रमाण देकर सिद्ध कर चुके हैं कि हिन्दू धर्म का एक सम्प्रदाय अन्य के उपास्यदेव की पूजा का न केवल निषेध

करता है, अपितु उसकी निन्दा भी करता है। इतना ही नहीं, एक ही सम्प्रदाय के उपास्यदेवों में भी विभिन्नता है। वैष्णव सम्प्रदाय राम और कृष्ण दोनों को ही पूर्णावतार मानता है। किन्तु इस सम्प्रदाय का एक दल राम को विशेपता देता है और दूसरा कृष्ण को। और एक दूसरे की मूर्ति की पूजा करने को उद्यत नहीं है।

परम वैष्णव श्री गोस्वामी तुलसीदास के लिये प्रसिद्ध ही है कि जब वह मथुरा आये तो कृष्ण की मूर्ति को यह कह कर—

कहा कहौं छवि आज की, भले बने हौ नाथ।
तुलसी मस्तक जब नवै, धनुष बाण लो हाथ॥

उस समय तक नतमस्तक नहीं हुए जब तक कृष्ण की मूर्ति ने धनुप बाण लेकर राम का रूप धारण नहीं कर लिया। चाहे उपर्युक्त घटना सर्वथा असत्य हो परन्तु यह सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है कि एक वैष्णव सम्प्रदाय के अन्तर्गत भी विभिन्नताएँ विद्यमान हैं।

"हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम्" हाथी के आक्रमण करने पर भी जैन के मन्दिर में न जाय, यह प्रसिद्ध लोकोक्ति इसका दूसरा ज्वलन्त उदाहरण है। हिन्दू मूर्तिपूजक का अवतारवाद में अटल विश्वास है अतः यदि वह निराकार ईश्वर के विशेषणों का कभी अपनी स्तुति-प्रार्थना में समावेश कर देता है तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वह मूर्ति की पूजा न करके निराकार ईश्वर की पूजा कर रहा है। वह ईश्वर के दोनों ही रूपों, साकार तथा निराकार, में विश्वास रखता है। इसीलिये कभी-कभी मूर्ति की स्तुति में निराकार के भी विशेषणों का समावेश कर लेता है। इसके अतिरिक्त पुराणों में देवता तथा देवियों की अनेक गाथायें उपस्थित हैं। जिनमें उनके जन्म, विवाह सन्तानोत्पत्ति एवं

युद्धों का विशद वर्णन है। इन गाथाओं के विद्यमान होते हुए यह कहना है कि हिन्दू धर्म वहुदेवतावादी नहीं है अयथार्थ है।

(२४)

वृक्ष अपने फलों से जाना जाता है। जब हम यह देखते हैं, कि मूर्तिपूजा में विश्वास रखनेवालों में बहुत से महापुरुष हुए हैं अथवा हैं, जिनका आदर्श चरित्र एवं आत्मवल अनुकरणीय है; फिर यह कैसे मान लिया जाय कि मूर्तिपूजा पाप है?"

मूर्तिपूजा के जिन भयानक दुष्परिणामों का हमने इस पुस्तक में वर्णन किया है क्या इस विषवृक्ष का परिचय देने के लिए पर्याप्त नहीं है? कौनसा ऐसा पाप है जो इसकी आड़ में नहीं किया जाता? हमारे मन्दिर, हमारे तीर्थ, हमारे पण्डे और पुजारी सब ही इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। झूठ, छल, कपट, दम्भ एवं दुराचार, कौनसा दुष्ट कृत्य है जो इसका सहचर नहीं है। निरीह निर्वल पशुओं से लेकर मनुष्य जैसा श्रेष्ठ प्राणी तक कौन ऐसा है जो इस राक्षसी वलिवेदी पर वलिदान नहीं किया गया। आज भी इस देश में हजारों मूक पशुओं की मूर्तिपूजा के नाम पर नित्य होने वाला वलिदान 'पूजा' जैसे पवित्र नाम को कलङ्कित कर रहा है। देवदासी प्रथा जैसा व्यभिचारपूर्ण कुकृत्य इसी मूर्तिपूजा रूपी वृक्ष का ही तो फल है। हिन्दू जाति की मानसिक सामाजिक तथा शताब्दियों की हमारी राजनैतिक दासता सब ही इस मूर्तिपूजा का कुपरिणाम है।

जो लोग मूर्तिपूजा मे विश्वास रखते हुए भी महापुरुष बन गए हैं यदि हम उन पर दृष्टि डालें तो हमें पता चलेगा कि उन के दैनिक जीवन में मूर्तिपूजा का कोई विशेष स्थान नहीं था। वे स्वयं मूर्तिपूजक नहीं रहे, केवल उनकी उसमें आस्थामात्र

रही है। चाहे वह परम्परागत होने के कारण से हो, चाहे इसलिए हो कि उसे उन्होंने विशेष हानिप्रद नहीं समझा। उनका समस्त जीवन यम, नियमों की मणिमाला में ओतप्रोत पाया जाता है और जैसा कि हम पूर्व लिख चुके हैं योग के केवल प्रारम्भिक यम, नियम दो अङ्गों का साधन ही मनुष्य को महात्मा बनाने के लिए पर्याप्त हैं। अष्टाङ्ग योग की सिद्धि तो मनुष्य को उस अवस्था तक पहुंचा देती है जिसकी कि आज हम इस युग में कल्पना भी कठिनाई से कर सकते हैं। फिर यह महानुभाव आप्त पुरुष नहीं थे जिनका प्रत्येक कार्य हमारे लिये अनुकरणीय हो। इसके अतिरिक्त हमने इस पुस्तक में वेद शास्त्रों के अनेक प्रमाण तथा रामायण काल से लेकर महाभारत काल तक की अनेक ऐतिहासिक साक्षी उपस्थित करके यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि उस काल में जो आर्य जाति के महान वैभव और उत्कर्ष का युग था, केवल एक निराकार ब्रह्मोपासना का सर्वत्र प्रचार था। इन आप्त ग्रन्थों एवं आप्त पुरुषों की साक्षी के समक्ष आधुनिक भ्रान्त महापुरुषों की साक्षी का क्या महत्व हो सकता है इस पर अधिक लिखना उचित प्रतीत नहीं होता। राजा राममोहनराय, इस युग के महान सुधारक ऋषि दयानन्द तथा अन्यान्य हिन्दू सन्तों द्वारा मूर्तिपूजा की युक्तियुक्त समीक्षा भी कम महत्वपूर्ण नहीं है।

उपासना विधि

मूर्तिपूजा के अभाव में हमारी उपासना-विधि क्या हो ? यह एक प्रश्न है, प्राय: जिसे या तो जटिल समझा जाता है या जटिल बनाकर सर्व साधारण के सम्मुख उपस्थित किया जाता है। जैसा कि हमने इस पुस्तक में सिद्ध करने का प्रयत्न किया है मूर्तिपूजा का आरम्भ महाभारत काल के पश्चात हुआ है। और उसका हमारे प्राचीन वैदिक धर्म और संस्कृति से कोई सम्बन्ध नहीं है। जिस समय इस देश में मूर्तिपूजा का प्रचार नहीं था। उस समय जनसाधारण की एक सर्वाङ्गपूर्ण उपासना-विधि थी, इस विषय पर हमारे धर्मशास्त्र और इतिहास पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। तब क्यों इस प्रश्न को इतना जटिल समझा जाता है। बात स्पष्ट है, मूर्तिपूजा के समर्थक इसकी आड़ में उसको जीवित रखना चाहते हैं। क्यों रखना चाहते हैं, इस विषय पर इस पुस्तक में पर्याप्त विचार किया जा चुका है।

यद्यपि योगविधि का कोई भी ऐसा अङ्ग नहीं है जो जन-साधारण की पहुँच से परे हो, तथापि यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि जिस प्रकार प्रत्येक मनुष्य उच्चकोटि का वैज्ञानिक साहित्यकार एवं कलाकार नहीं बन सकता, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति योगी बनने की क्षमता नहीं रखता। यह सत्य है कि जो जितना परिश्रम करता है उसे उतना फल अवश्य प्राप्त होता है। परन्तु प्रत्येक जीव अपने पूर्व संस्कार तथा उस वातावरण में जिसमें कि उसका पालन-पोषण अथवा विकास हुआ है प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। जीवन जन्म जन्मान्तर के संस्कार का पुञ्ज है, इसे बिना समझे हम इस सासारिक विषमता को भली भाँति नहीं समझ सकते। अत: एक ऐसी उपासना विधि की जिसके द्वारा प्रत्येक मनुष्य अपनी भौतिक उन्नति के साथ आत्मविकास भी कर सके, आवश्यकता सदा

और सर्वत्र अनुभव हुआ करती है। प्राचीन आर्य जाति इस विधि से अनभिज्ञ नहीं थी। हमारे धर्मशास्त्र प्रातः सायं नित्य नैमित्तिक रूप से प्रत्येक नर-नारी एवं बाल-वृद्ध को सन्ध्या करने का बल पूर्वक उपदेश देते हैं हमारा प्राचीन इतिहास उसका साक्षी है, जिसको हमने यथास्थान सिद्ध किया है। आज भी मूर्तिपूजा के प्रचार से यह विधि लोप नहीं हुई, यह दूसरी बात है कि समय के फेर से उसका कुछ रूप बदल गया हो।

यह सन्ध्योपासना-विधि योग के आधार पर निर्माण की गई है। प्रत्येक अपनी अभिरुचि के अनुसार यदि वह चाहे तो इसकी सहायता से उत्तरोत्तर अपने आत्म-विकास द्वारा समाधि अवस्था तक पहुँच सकता है। आचमन, मार्जन, प्राणायाम, उपस्थान तथा गायत्री मन्त्र का जाप आदि समस्त विधि सरल एव सुबोध हैं और प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति थोड़े से प्रयत्न और अभ्यास से उसे हृदयङ्गम कर सकता है। परन्तु फिर भी प्रश्न रह जाता है, अज्ञ जन समुदाय के लिए, जिसकी गणना हमारे देश में दुर्भाग्य से आज ८० प्रतिशत के लगभग है, किस विधि का प्रचार किया जाय। योग दर्शन जैसा कि पूर्व लिख चुके हैं, प्रत्येक व्यक्ति और वर्ग के लिए चाहे वह विद्वान हो अथवा अविद्वान्, शिक्षित हो अथवा अशिक्षित उपासना-विधि का समान रूप से वर्णन करता है। अशिक्षित समुदाय के लिये "ओङ्कार जाप" की सरल विधि योगदर्शन में विद्यमान है। तज्जपस्तदर्थभावनम्। (योग दर्शन समाधिपाद सूक्त २८) ओ३म् का जाप और उसका अर्थचिन्तन एक अत्यन्त सरल विधि है, जिससे बाल-वृद्ध, शिक्षित-अशिक्षित सब ही समान लाभ उठा सकते हैं। इसी भाँति गायत्री मन्त्र के अर्थसहित जाप का अभ्यास भी थोड़े से परिश्रम से किया जा सकता है। गायत्री मन्त्र जाप का हमारे धर्मशास्त्र में ओङ्कार जाप की भाँति बड़ा

महात्म्य है। मन्त्र जाप भी चित्त की एकाग्रता का एक साधन है। अतः साधारण शिक्षित लोग उससे समुचित लाभ उठा सकते हैं।

प्रणव अथवा मन्त्र जाप में जिस बात की विशेष आवश्यकता है और जिसे दुर्भाग्यवश पौराणिक काल में सर्वथा भुला दिया गया था, वह 'अर्थ' विचार' है। एक हिन्दू समझता है कि बिना अर्थ-विचारे मन्त्र जाप मात्र से ही उसके पाप नष्ट हो जाते हैं, किन्तु जब तक हम मन्त्रार्थ नहीं जानते तब तक हम उससे पूर्ण लाभ नहीं उठा सकते और न उससे हमारे विचार ही प्रभावित हो सकते हैं। जप का उद्देश्य विचारों की शुद्धता और मन की एकाग्रता है। यदि इससे इन दोनो उद्देश्यों की पूर्ति नहीं होती है तो उसका महत्व तोते की रट से अधिक नहीं। अतः जप के साथ अर्थ विचार अनिवार्य है।

प्रत्येक व्यक्ति को पञ्च यज्ञों के नित्य अनुष्ठान का आर्य-धर्म पद-पद पर उपदेश देता है। इन्हीं आह्निक कर्मों में एक ब्रह्म यज्ञ है। सन्ध्या, जप, स्वाध्याय और प्रवचन ये सब ही ब्रह्म यज्ञ के अन्तर्गत हैं। अर्थात् सायं, प्रात ईश्वरोपासना मन्त्र जाप, वेदादि सद्ग्रन्थों का नियम पूर्वक अध्ययन तथा जो कुछ स्वयं अध्ययन किया है उसे दूसरों पर प्रकट करना, ये प्रत्येक के लिये नित्य नैमित्तिक कर्म हैं। परन्तु हिन्दू समाज में जहाँ ईश्वरोपासना का स्थान मूर्तिपूजा ने ले लिया है, वहाँ स्वाध्याय का या तो सर्वथा अभाव हो गया या रामायण, भागवतादि इतिहास पुराणों ने ले लिया, और वेद शास्त्र, स्मृति आदि सद्ग्रन्थों का अध्ययन लुप्तप्राय हो गया। सर्वसाधारण का धर्मविषयक ज्ञान राम और कृष्ण की कथाओं से अधिक कुछ नहीं है। इसका एक अन्य कारण यह भी है कि पौराणिक काल में वेदाध्ययन का अधिकार केवल ब्राह्मणों तक ही

सीमित कर दिया गया। वैदिक काल में वेदाध्ययन पर ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं था। ऐसी अवस्था में यदि वेदादि उच्चकोटि के धार्मिक साहित्य का सर्व साधारण से सम्पर्क न रहा तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। आज हिन्दू जाति अपने प्राचीन धार्मिक साहित्य से बहुत कम परिचित है। उसका ज्ञान केवल कुछ पौराणिक-एवं ऐतिहासिक गाथाओं तक ही सीमित है। अत. आर्य धर्म को पुनर्जीवित करने के लिए यह परमावश्यक है कि हम हिन्दुओं में अपने प्राचीन धार्मिक साहित्य के लिए पुनः अभिरुचि उत्पन्न करें।

पञ्च यज्ञों में दूसरा स्थान देव-यज्ञ का है। जिसका दूसरा नाम अग्निहोत्र अथवा हवन है। इसका भी आर्य जीवन में ब्रह्मयज्ञ की भाति मुख्य स्थान है। सन्ध्या की भाँति इसको भी प्रातः साय नित्यप्रति करने का विधान है, जैसा कि हम पूर्व वर्णन कर चुके हैं। महाभारत-युद्ध काल तक इन दोनों यज्ञों का हमारी दिनचर्या में विशेष महत्व रहा था। हमारे पतन के साथ इस यज्ञविधि का भी पतन हुआ। रामायण काल में राम को इन्हीं यज्ञों के रक्षार्थ राक्षसों से घोर युद्ध करना पड़ा, परन्तु वही रुधिर,-माँस जो उस समय यज्ञों को अपवित्र करता था, पशुबलि के रूप में यज्ञों में डाला जाने लगा। गौ जैसे उपकारी और निर्दोष पशु की भी यज्ञों में बलि देना धर्म समझा जाने लगा। फलतः बौद्ध काल में यज्ञ जैसे पवित्र धार्मिक कृत्य को इसी दोष के कारण परित्याग कर दिया गया। अग्निहोत्र का एक नाम देव-पूजा भी है। देव शब्द की भाँति देव-पूजा को भी मूर्ति पूजा समझा जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। आज आप किसी हिन्दू से देवपूजा का शब्दार्थ पूछें वह तुरन्त मन्दिरों में स्थित मूर्तियों की पूजा कर देगा। इसी प्रकार प्राचीन काल

में देव मन्दिर, देवालय, मण्डप शब्दों का प्रयोग यज्ञ शालाओं के लिये हुआ करता था। किन्तु आज इन शब्दों को देखकर हम चौंक पड़ते हैं और समझने लगते हैं कि उस समय भी मूर्ति पूजा का प्रचार था। अब मन्दिर शब्द ही एक रूढ़ि बन गया है। जिसका अर्थ मूर्तिपूजा का स्थान समझा जाता है। शिवालय की बनावट यज्ञशाला जैसी है। बम्बई प्रान्त में अब भी उसके लिए मण्डप शब्द प्रयुक्त होता है। शिवालय सर्वत्र चौकोण अथवा अष्ट कोण बनाया जाता है। उसका शिखर, यज्ञाग्नि के शिखर के समतुल्य ही होता है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं यदि किसी समय वाममार्ग काल मे इन्हीं यज्ञ मण्डपों का रूपान्तर वर्तमान काल के शिवालयों में कर दिया गया हो। कुछ विद्वानों का ऐसा ही मत है शिवालय के मध्य में शिवलिङ्ग प्रायः एक गहरी गोलाकर वेदी में स्थापित होता है, जिसके सम्बन्ध मे उनकी सम्मति है कि वह यज्ञ वेदी है। अतः यह अनुमान कि प्राचीन वैदिक देव यज्ञ के भग्नावशेष पर ही मूर्तिपूजा का भवन निर्माण हुआ है, केवल एक कल्पना ही नहीं है अपितु उसमें बहुत कुछ तथ्य भी है। सन्ध्योपासना जहाँ व्यष्टि रूप से किये जाने वाला एक धार्मिक कृत्य है वहाँ अग्निहोत्र समष्टि रूप से होने वाली नित्य नैमित्तिक क्रिया है। प्रत्येक गृहस्थ प्रातः सायं सामूहिक रूप से सपरिवार अग्निहोत्र करे, यह आर्य मर्यादा है। इसी प्रकार पक्ष, मास, चतुर्मास तथा षट् मास की समाप्ति पर सामूहिक अथवा सामाजिक अग्निहोत्र समारोहों का महाभारत काल तक इस देश में प्रचार था। दीपावली, शारदीय नवस्योष्टि तथा होली (वासन्तीय नव शस्येष्टि यज्ञ) ऐसे यज्ञों के रूपान्तर हैं। इसी प्रकार आषाढ़ की पूर्णिमा, कार्तिकी पूर्णिमा, एवं फाल्गुन पूर्णिमा चातुर्मास यज्ञों के अवशिष्ट

सीमित कर दिया गया। वैदिक काल में वेदाध्ययन पर ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं था। ऐसी अवस्था में यदि वेदादि उच्चकोटि के धार्मिक साहित्य का सर्व साधारण से सम्पर्क न रहा तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। आज हिन्दू जाति अपने प्राचीन धार्मिक साहित्य से बहुत कम परिचित है। उसका ज्ञान केवल कुछ पौराणिक-एवं ऐतिहासिक गाथाओं तक ही सीमित है। अतः आर्य धर्म को पुनर्जीवित करने के लिए यह परमावश्यक है कि हम हिन्दुओं में अपने प्राचीन धार्मिक साहित्य के लिए पुनः अभिरुचि उत्पन्न करें।

पञ्च यज्ञों में दूसरा स्थान देव-यज्ञ का है। जिसका दूसरा नाम अग्निहोत्र अथवा हवन है। इसका भी आर्य जीवन में ब्रह्मयज्ञ की भाति मुख्य स्थान है। सन्ध्या की भाँति इसको भी प्रातः सायं नित्यप्रति करने का विधान है, जैसा कि हम पूर्व वर्णन कर चुके हैं। महाभारत-युद्ध काल तक इन दोनों यज्ञों का हमारी दिनचर्या में विशेष महत्व रहा था। हमारे पतन के साथ इस यज्ञविधि का भी पतन हुआ। रामायण काल में राम को इन्हीं यज्ञों के रक्षार्थ राक्षसों से घोर युद्ध करना पड़ा, परन्तु वही रुधिर,-माँस जो उस समय यज्ञों को अपवित्र करता था, पशुबलि के रूप में यज्ञों में डाला जाने लगा। गौ जैसे उपकारी और निर्दोष पशु की भी यज्ञों में बलि देना धर्म समझा जाने लगा। फलतः बौद्ध काल में यज्ञ जैसे पवित्र धार्मिक कृत्य को इसी दोष के कारण परित्याग कर दिया गया। अग्निहोत्र का एक नाम देव-पूजा भी है। देव शब्द की भाँति देव-पूजा को भी मूर्ति पूजा समझा जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। आज आप किसी हिन्दू से देवपूजा का शब्दार्थ पूछें वह तुरन्त मन्दिरों में स्थित मूर्तियों की पूजा कर देगा। इसी प्रकार प्राचीन काल

परिशिष्ट

❀ ओ३म् ❀

सिन्धु घाटी की सभ्यता और पूजा

पुरातत्व विभाग द्वारा भारतवर्ष में अनेक खुदाई हुई है, और होती रहती हैं। अनेक नगरों और स्थानों की खुदाई में कहीं कहीं मूर्तिया भी मिलती हैं। इन मूर्तियों को देख प्राय मूर्ति पूजा के समर्थक प्राचीन भारत मे मूर्ति पूजा का प्रचलन सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु सिन्धु-घाटी मे हड़प्पा और मोहन जोदड़ो की खुदाई के अतिरिक्त जितनी मूर्तियाँ अब तक प्राप्त हुई हैं वे सभी पुरातत्व-विभाग विशेषज्ञों एव ऐतिहासिको द्वारा बौद्ध और उत्तर बौद्ध कालीन मानी जाती हैं। सिन्धु घाटी की सभ्यता पांच हजार वर्ष पुरानी आकी जाती है। हाल में सौराष्ट्र के रंगपुर की खुदाई से यह सिद्ध हुआ है कि इस सभ्यता के चिन्ह केवल सिन्धु घाटी ही में नहीं अपितु दक्षिण में सौराष्ट्र तक प्राप्त होते हैं, हड़प्पा और मोहन जोदड़ो में कुछ मूर्ति और मुद्राएं मिली हैं। मूर्तियों में स्त्री-पुरुष की मिट्टी की मूर्तियों के अतिरिक्त कुछ शिव-लिंग आकृति की मूर्तियाँ भी हैं। साथ ही मोहन–जोदड़ो मे जो मुद्राए प्राप्त हुई हैं उन पर जो आकृतियाँ बनी हुई हैं उनका सम्बन्ध भी पशु-पति आदि देवों से जोड़ा जाता है। जहाँ तक "शिव-लिङ्ग मूर्ति का सम्बन्ध है जब तक यह वस्तुऐं किन्हीं शिवालय अथवा पूजा स्थान मे प्राप्त न हों, यह पीसने और रगड़ने के कार्य में आने वाले पत्थर के खरल बट्टे जिनकी आकृति आज भी इस देश में लिङ्ग योनि जैसी होती है, क्यों नहीं हो सकते? मुद्राओं पर जो आकृतियाँ अंकित हैं. वे इस देश की देवी देवताओं से नहीं मिलतीं। तब इनके आधार पर ५००० वर्ष पूर्व इस देश मे मूर्ति–पूजा का प्रचलन सिद्ध करना केवल कल्पना मात्र है।

मात्र हैं। अश्वमेध, गोमेधादि यज्ञों का राष्ट्रिय-स्वरूप है। उस समय इस देश में अग्नि होत्र का इतना प्रचार और महत्व था कि प्रत्येक शुभ अवसर पर अग्नि होत्र से ही कार्य प्रारम्भ होता था। हमारे संस्कारों की यज्ञ प्रधानता आज भी हमें उस युग की याद दिलाती है। अग्निहोत्र द्वारा पञ्चदेव—आकाश, अग्नि, वायु, जल तथा पृथ्वी की शुद्धि और संस्कार होता है। यही इनकी पूजा है। और इसीलिये इसका नाम देव-यज्ञ अथवा देवपूजा है। जल-वायु की शुद्धि द्वारा अनायास ही अनेक संक्रामक रोगों से हमारी रक्षा होती है। यह निर्विवाद है कि अग्निहोत्र से हमारे मन और स्वास्थ्य पर एक अद्भुत प्रभाव पड़ता है जिसका अनुभव प्रत्येक व्यक्ति थोड़े से व्यय और परिश्रम से स्वयं कर सकता है।

आर्य जाति अपने धर्म और संस्कृति से आज बहुत दूर हट चुकी है, परन्तु अब भी उनके अंकुर बीजरूप से उसमें विद्यमान हैं। आवश्यकता किञ्चित् नेतृत्व और पथप्रदर्शन की है। हजारों वर्षों से अनेक सम्प्रदायों द्वारा वह पथभ्रष्ट होती रही है। धर्म के नाम पर अनेक कुसंस्कार और दुर्व्यसन उसमें घर कर गये हैं। तथापि राख की ढेरी के नीचे दबी हुई चिन्गारी की भाँति आज भी वैदिक भावनाएं सर्वथा विलुप्त नहीं हुईं। यदि हिन्दू समाज के कर्णधार स्वार्थ से ऊपर उठ कर उस दैवी अग्नि को प्रज्वलित करना चाहें तो वह अब भी संसार को पुनः देदीप्यमान करने की क्षमता रखती है। इस जाति ने अनेक दुर्दिन देखे हैं किन्तु फिर भी उसका अपना प्राचीन गौरव सर्वथा विलुप्त नहीं हुआ। वह आज कङ्काल होने पर भी अनेक बहुमूल्य रत्नों की स्वामिनी है, और अब भी संसार को कुछ दे सकती है। क्या इसके लिये हम कुछ आत्मोत्सर्ग करेंगे।

परिशिष्ट

✽ ओ३म् ✽

सिन्धु घाटी की सभ्यता और पूजा

पुरातत्व विभाग द्वारा भारतवर्ष में अनेक खुदाई हुई है, और होती रहती हैं। अनेक नगरों और स्थानों की खुदाई में कहीं कहीं मूर्तिया भी मिलती हैं। इन मूर्तियों को देख प्रायः मूर्ति पूजा के समर्थक प्राचीन भारत में मूर्ति पूजा का प्रचलन सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु सिन्धु-घाटी में हड़प्पा और मोहन जोदड़ो की खुदाई के अतिरिक्त जितनी मूर्तियाँ अब तक प्राप्त हुई हैं वे सभी पुरातत्व-विभाग विशेषज्ञों एव ऐतिहासिको द्वारा बौद्ध और उत्तर बौद्ध कालीन मानी जाती हैं। सिन्धु घाटी की सभ्यता पांच हजार वर्ष पुरानी आकी जाती है। हाल मे सौराष्ट्र के रंगपुर की खुदाई से यह सिद्ध हुआ है कि इस सभ्यता के चिन्ह केवल सिन्धु घाटी ही में नहीं अपितु दक्षिण में सौराष्ट्र तक प्राप्त होते हैं, हड़प्पा और मोहन जोदड़ो में कुछ मूर्ति और मुद्राएँ मिली हैं। मूर्तियों में स्त्री-पुरुष की मिट्टी की मूर्तियों के अतिरिक्त कुछ शिव-लिंग आकृति की मूर्तियाँ भी हैं। साथ ही मोहन-जोदड़ो मे जो मुद्राएं प्राप्त हुई हैं उन पर जो आकृतियाँ बनी हुई हैं उनका सम्बन्ध भी पशु-पति आदि देवों से जोड़ा जाता है। जहाँ तक "शिव-लिङ्ग मूर्ति का सम्बन्ध है जब तक यह वस्तुएँ किन्हीं शिवालय अथवा पूजा स्थान मे प्राप्त न हों, यह पीसने और रगड़ने के कार्य मे आने वाले पत्थर के खरल बट्टे जिनकी आकृति आज भी इस देश में लिङ्ग योनि जैसी होती है, क्यों नहीं हो सकते? मुद्राओं पर जो आकृतियाँ अंकित हैं- वे इस देश की देवी देवताओं से नहीं मिलतीं। तब उनके आधार पर ५००० वर्ष पूर्व इस देश में मूर्ति-पूजा का प्रचलन सिद्ध करना केवल कल्पना मात्र है।

आइए अब उन तथ्यों पर जिन पर इन नगरों की खुदाई कराने वाले मि० जोन मार्शल पहुँचे है विचार करें। मार्शल का मत है कि यह सभ्यता आर्यों के इस देश मे आगमन के पूर्व की सभ्यता है जो उनके आक्रमण से नष्ट भ्रष्ट हो गई। जोन मार्शल मैके तथा उनके अनुगामी पुरातत्व अन्वेषक एव ऐतिहासिकों का इस बात में एक मत है कि यह सभ्यता 'मैसापोटामिया' की सुमेरियन सभ्यता से बहुत मिलती जुलता है। इन स्थानो पर प्राप्त नर-मूर्तियों की आकृति उनके वस्त्र पहिनने के ढग, आभूषण, मिट्टी के पात्र तथा मुद्राऐं सभी मैसपोटानियाँ की सुमेरियन सभ्यता जैसी हैं। मूर्तियों को खण्डश बनाने की विधि जिनका प्रयोग हड़प्पा मूर्तियो में किया गया है, भारतीय मूर्ति कला मे अज्ञात है। परन्तु इसके उदाहरण मैसोपोटामियाँ के दो प्राचीन खण्डहरों मे मिले हैं—यह मूर्तियाँ भी खण्डश बनाई गई थीं। मोहेंजोदाड़ो मे प्राप्त एक नर-मूर्ति महत्व पूर्ण है। इसकी गोल छोटी दाढ़ी, ऊपर का होंट साफ मुंडा हुआ है। माथे पर शिर के बालों को यथा स्थान रखने के लिए एक छोटी पट्टी बधी हुई है। यह बाऐं कन्धे और दाहिनी बगल में होता हुआ शरीर पर एक वस्त्र ओढे हुए है जिस पर तिपत्ती मिट्टी के बूटे हैं। इसी प्रकार के बूटे मोहेजोदाड़ो और हड़प्पा की अन्य वस्तुओं पर भी अङ्कित हैं, जो मैसोपोटामियाँ मे उर नाम के प्राचीन खण्डहर में भी पाए गए हैं, जो अनुमानतः ईसा पूर्व ३००० वर्ष पुराने हैं।

मिट्टी की स्त्री मूर्ति केवल एक कटि वस्त्र पहिने हुए है जिसकी तुलना भी सुमेरियन स्त्रियों के 'कौनक' कटि वस्त्र से की जा सकती है। मुद्राओं पर अङ्कित देव मूर्तियाँ और लिपि भी मैसोपोटामियाँ की सुमेरियन जाति की देव मूर्तियों और लिपियों से बहुत समानता रखती, है जिनका वर्णन उनके कथानकों में

मिलता है। यह देव मूर्तियाँ भारतीय किसी भी देव-मूर्ति के तुल्य नहीं हैं।

इस प्रकार अब केवल विचारणीय विषय यह रह जाता है कि यह सभ्यता जो मैसोपोटामियाँ आदि की सभ्यता से मिलती जुलती है भारत से वहाँ गई, जैसा कि मार्शल आदि का मत है, अथवा भारत मे वहाँ से आई। जिन विद्वानों और ऐतिहासिकों का यह मत है कि आर्य यहीं के निवासी हैं, बाहर से आकर यहाँ नहीं बसे उनके मतानुसार सिन्धु घाटी की सभ्यता विदेशी सभ्यता भी हो सकती है, और यह मानने में कि वह विदेशों से यहाँ आई, कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। इसका एक प्रबल प्रमाण सिकन्दर के राजदूत मेगास्थनेस के लेखों से प्राप्त होता है—

The men of greatest learning among the Indians tell certain legends.

" .... .They relate that in the most primitive times, when people of the country were still living in villages, Diomysos made his appearance coming from the regions lying to the west, and at the head of a considerable army. He over ran the whole of India. . .....He was besides, the founder of large cities........ after reigning over the whole of India for two and fifty years he died of old age ....At last, after many generations had come and gone, the soverignty, it is said, was dissolved, and democratic governments were set up in the cities.. ...

.... and their city Nyas, which Dionysos had founded.

The Nysaioi, however, are not an Indian race, but descendants of those who come into India with Dionysos ..

Father Bacchus .. . .was the first of all who triumphed over the vanquished Indians They further called the Oxydrakai descendants of Dionysos, because the vine grew in their country. Tombs are plain, and the mounds raised over the head lowly"

अर्थात्—भारतीय विद्वानों की परम्परा के अनुसार दानवासुर पश्चिम से (India) सिन्धु में आया । उसने सारा सिन्धु विजय किया । वह बडे बडे नगरों का निर्माता था । नैश नगर उसी का निर्मित है । नैश के वासी भारतीय नहीं हैं । दानवासुर के वंशज है क्षुद्रक लोग भी दानवासुर के वंशज हैं । उनके देश में अगूर (द्राक्षा) उगती थी । · · ·· ·· क्षुद्रकों की कबरें साफ और नीची होती हैं । ····· ·· ··दानवासुर के अनेक पीढ़ी पश्चात् एक राजा का राज्य हट कर अनेक नगरों मे गण राज्य स्थापित हुए ।

टिप्पणी—पुराने यवन सिन्धु और पञ्जाब को India अथवा सिन्धु प्रदेश कहते थे । शनैः शनैः यह शब्द समस्त भारत के लिये प्रयुक्त होने लगा । पञ्जाब और सिन्धु की अनेक जातियां असुरों के वंश मे हैं । भारतवर्ष का बृहद् इतिहास (प० भगवद्दत्त बी.ए.)

अत. सिन्धु-घाटी में प्राप्त शिव लिङ्ग—यदि उसे वास्तव में शिव लिंग कहा जा सकता है—तथा मुद्राओं पर अंकित देव

मूर्तियाँ विदेशियों की देव मूर्तियाँ है, जिन्हे वे अपनी सभ्यता के साथ इस देश में लाए, भारतीय नहीं। शिव लिंग पूजा भ अभारतीय ही है। अफ्रीका के एक भाग मे अब भी एक शिवालय है, जहाँ शिव-लिङ्ग स्थापित है। अरब देशों मे इस्लाम से पूर्व शिव-लिङ्ग—पूजा प्रचलित थी।

आश्चर्य यह है कि मूर्ति-पूजा-समर्थक मूर्ति-पूजा की प्राचीनता सिद्ध करने की धुन में आर्यों का विदेशों से आगमन मानकर अपनी प्राचीन सभ्यता और संस्कृति पर कुठाराघात होना कैसे सहन कर लेते हैं? सिन्धु घाटी की सभ्यता पाँच हजार वर्ष पुरानी मानी जाती है, जो भारतीय धार्मिक इतिहास के अनुसार महाभारत काल के लगभग तक पहुँचती। तब क्या आर्य—संस्कृति का प्रादुर्भाव महाभारत के समय से ही माना जाय? तब क्या 'राम'—जिनकी मूर्ति को विष्णु अवतार मानकर पूजा की जाती है—अनार्य थे? अथवा राम का समय महाभारत के पश्चात् माना जाय? दुःख है कि पाश्चात्यों के इस मिथ्या प्रचार का कि हमारे आर्य—पूर्वज विदेशी आक्रमण कारी थे, यहाँ के मूल निवासी नहीं, अपने को विदेशी सिद्ध करने का हम भी अनुकरण करते हैं। हम आज भी नहीं समझ पा रहे हैं कि उनकी इस कुटिल चाल ने इस देश में क्या उत्पात खड़े कर दिए हैं, और कितना विषैला वातावरण उत्पन्न कर दिया है। भील, कोल, नागा आदि वन जातियाँ ही नहीं द्रविड़, एवं हिंदुओं की परिगणित जातियाँ भी अपने को यहाँ का मूल निवासी बताते हैं और यह जातियाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य वर्ग को विदेशी आक्रमण कारी कह कर घृणा की दृष्टि से देखने लगे हैं। आवश्यकता इस बात की है कि अब भारतीय इतिहास के उन पृष्ठों को—जिनमें आर्यों को अभारतीय बताया गया है—फाड़ फेंका जाय, इसी में हमारा कल्याण है।

वेदों में मूर्ति पूजा की भ्रान्ति

बहुत से पाश्चात्य एव उनके अनुगामी भारतीय विद्वान कुछ वेद-मन्त्रो को लेकर उनमें मूर्ति पूजा का मूल खोज निकालने का प्रयत्न करते हैं। मूर्ति-पूजा के समर्थक पौराणिक पण्डित भी वेदों के ऐसे ही मन्त्रों को अपना पक्ष सिद्ध करने के लिए प्राय. प्रस्तुत किया करते हैं। ऐसे ही कुछ प्रसिद्ध वेद-मन्त्रों पर यहाँ विवेचन किया जाता है। वास्तविकता यह है कि यह लोग या तो वेदार्थ शैली से अनभिज्ञ होने के कारण ऐसे अर्थ करते हैं अथवा ऐसा करने में उनका पक्षपात और स्वार्थ निहित होता है अन्यथा जैसा कि अन्यत्र सिद्ध किया जा चुका है। वेद निराकार एवं अमूर्त ईश्वरोपासना का ही प्रतिपादन करते हैं। वेदों पर जितने भी उव्वट से सायण तक भारतीय भाष्य उपलब्ध हैं, किसी ने भी इनके मूर्ति पूजा परक अर्थ नहीं किये। चाहे किन्हीं भाष्यों से बहु-देवतावाद की गन्ध आती हो किन्तु मूर्ति पूजा का इनमें सर्वथा अभाव ही है।

पहले हम उन पाश्चात्य तथा उनका अनुकरण करने वाले भारतीय विद्वानों द्वारा प्रस्तुत किए जाने वाले ऋगवेद के प्रसिद्ध दो मन्त्र जिनसे वेदों में 'लिंग-पूजा'—जिससे उनका तात्पर्य इस देश में प्रचलित शिव-लिंग पूजा से है—को सिद्ध करना है, लेते हैं।

"न यातव इन्द्र जूजुवुर्नो न वन्दना शविष्ठ वेद्याभि ।
स शर्धदर्यो कि विषुणस्य जन्तोर्मा शिश्न देवा अपि गुरृतन ॥"

(ऋग्वेद) ७।२१।५

इस मन्त्र में आए—"मा शिश्न देवा अपि गुरृ तंनः", इपकी

व्याख्या यास्काचार्य ने निरुक्त नैगम काड ४।३।४५ मे निम्न प्रकार की है —

—"मा शिश्न देवा"—अ ब्रह्मचर्या. शिश्नमूश्नथते ।

अपिगु ऋत न' सत्यं वा यज्ञं वा ॥ अर्थात कामीजन हमारे यज्ञ में न आयें। शिश्न से क्रीड़ा करने वालों को 'शिश्नदेव' कहा गया है (निरुक्त प्रदीप पूर्वार्ध पृष्ठ २८७)।

सायणाचार्य ने शिश्नदेव का अर्थ भी—'अथच शिश्नदेवा. शिश्नेन दीव्यन्ति क्रीडन्त इति शिश्नदेवाः अब्रह्मचर्या इत्यर्थः। अर्थात् जो लोग लिंग से खेलते हैं वे अब्रह्मचारी हैं,—किया है।

स वाज यातापदुष्पदा यन्त्स्वर्षाता परि षदत्स निष्यन् ।
अनर्वा यच्छतदुरस्य वेदो घ्नञ्छिश्नदेवा अभिवर्पसा भूत ॥
(ऋग्वेद १०।९९।३)

इस पर भी सायणाचार्य ने "शिश्नदेवान् अब्रह्मचर्यान् शत्रु पुर सम्बन्धिपु वर्त्तमानान् घ्नन् हिंसन्"—अर्थात् लिंग जन्य कामनाओं को मारकर शान्ति लाभ करता है इत्यादि भाष्य किया है।

उपर्युक्त दोनो ही मन्त्रो मे "शिश्नदेवा" का अर्थ कामी एवं अब्रह्मचारी ही है। इससे लिंग पूजा किसी प्रकार सिद्ध नहीं है। अतएव इन विद्वानो की यह कल्पना कि वेदों में लिंग पूजा है सर्वथा भ्रान्त और निराधार है।

अब उन मन्त्रों पर, जो प्राय मूर्ति-पूजा के पोषक पौराणिक विद्वानों द्वारा मूर्ति पूजा के पक्ष में प्रस्तुत किए जाते हैं, यहा क्रमश संक्षेप मे विचार करते हैं —

'सहस्रस्य प्रमा असि सहस्रस्य प्रतिमा असि ।
सहस्रस्योन्मासि । सहस्रोऽसि सहस्राय त्वा ॥

इस मंत्र में प्रतिमा शब्द मूर्ति के लिए नहीं अपितु माप के लिए प्रयुक्त हुआ है। महीधर का निम्नार्थ इसकी पुष्टि करता है :—

'हे अग्ने! सहस्रस्येष्टकाना प्रमा प्रमाणं त्वमसि। सहस्रस्य प्रतिमा प्रतिनिधिरसि। सहस्रस्योन्मा-

तुलासि।' अर्थात् हे अग्निदेव! तू सहस्र ईंटों का प्रमा प्रमाण है। सहस्र ईंटों की तू प्रतिनिधि है। सहस्र ईंटों का तू नपना है।

'संवत्सरस्य प्रतिमा या त्वा रात्र्युपास्महे।
सान आयुष्मतीं प्रजा रायस्पोषेण संसृज।

—अर्थात् हे रात्रि! हम तेरी उपासना करते हैं - तेरा सेवन करते हैं - भले प्रकार सोते हैं। यह रात्रि क्या है? संवत्सर —वर्ष का माप है। दिन और रात्रि से ही वर्ष नापा जाता है। इस लिए रात्रि को संवत्सर का माप कहा गया है। इस पर पारस्कार गृह्यसूत्र कार लिखता है।

'यां जना प्रतिनन्दन्ति रात्रिं धेनु मिवायतीं संवत्सरस्य यापत्नि
सा नो अस्तु सुमंगली स्वाहा। संवत्सरस्य प्रति माया—
—ता त्वं रात्रि मुपास्महे। संवत्सराय परिवत्सरायेदावत्सरायेद्व-

त्सरायकृणुताबृहन्नम' —अर्थात् जिस रात्रि में मनुष्य आनन्द मनाते हैं। रात्रि गौ के समान दूध देने वाली है, जो संवत्सर की प्रतिमा — नापने का साधन है, ऐसी रात्रि की हम उपासना करते हैं - सेवन करते हैं, इत्यादि।

कासीत्प्रमा प्रतिमा किं निदान माज्यं किमा सीत परिधिः क आसीत् छन्दः किमासीत् प्रउगं किमुक्थं यद्देवा देवम् जयन्त विश्वे॥

इस मंत्र से भी प्रतिमा शब्द मूर्ति अर्थ में सिद्ध नहीं होता।

इसके भाष्य में सायणाचार्य कहते हैं –

तदानीं तस्य यज्ञस्य प्रमा प्रमाण इयन्ता का कथं भूतासीत् । तथा प्रतिमा हविः प्रतियोगित्वेन मीयते निर्मीयत इति प्रतिमा देवता सा वा तस्य यज्ञस्य कासीत् ।

यहाँ पर प्रतिमा का अर्थ सायण ने यज्ञ का हविः स्थानीय प्रतिनिधि पदार्थ माना है, सत्यार्थ की दृष्टि से यह मंत्र यही बतलाता है कि सृष्टि रचना रूप यज्ञ का नपना परिधि और हविः आदि क्या थे, यह प्रश्न किया गया है ।

उपर्युक्त मन्त्र में प्रतिमा शब्द को लेकर मूर्ति पूजा की कल्पना की जाती है । अमर कोष मे प्रतिमान्, प्रतिविम्ब, प्रतिमा, प्रति-यातना, प्रतिच्छाया, प्रति-कृति, अर्चा प्रतिनिधि, यह आठ नाम प्रतिमा के दिये हैं। मनुस्मृति मे 'प्रतिमान्' का अर्थ तोलने के बाटों का किया है :-

तुलामानं प्रतिमानं सर्वंच स्यात् सुलक्षितम् ।
षट्सु षट्सु च मासेषु पुनरेव परीक्षयेत् ॥

(मनु० ८ ।४०३॥)

अर्थात् तुला की तौल और मानो को अच्छे प्रकार देखे, और छ. छः महीने मे जाँच कराता रहे ।

उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध है कि प्रतिमा का अर्थ केवल मूर्ति ही नहीं है, और इन मन्त्रों में यही अर्थ सगत हैं ।

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं प्रतिवेदनम् उर्वारुकमिव बन्धनादितो मुक्षीय मामुतः ॥ (यजु० ३।६०)

'त्र्यम्बक' शब्द के अर्थ सायणाचार्य निम्न प्रकार करते हैं–

ब्रह्मा, विष्णु, रुद्राणा अम्बकं पितरं यजामहे ।

अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, और रुद्र का जो पिता है उसका हम

यजन करते हैं। कात्यायन जी कहते हैं —अग्निः त्रिपर्यन्ति, ५।१०।१५। इस मन्त्र से अग्नि की तीन परिक्रमा करती है।

सोम सूर्याग्निकामत्मकानि लोचनानि यस्य स त्रिलोचनः
(कैवल्योपनिषद् दीपिका टीका पृ० ७१४

अर्थात् सोम, सूर्य, और अग्नि ये तीन नेत्र वाला।
इनके प्रमाणों से 'त्र्यम्बक' का अर्थ यहाँ तीन नेत्र वाला शिव सिद्ध नहीं होता। इस मन्त्र का युक्ति युक्त अर्थ इस प्रकार है —
[सुन्दर पालन शक्ति देने वाले ईश्वर की हम उपासना करते है, जिससे हम डंठल से खरबूजे के समान इस लोक के बन्धन से छूट जाय, मोक्ष से नहीं।]

याते रुद्र शिवा तनूरघोराऽपापकाशिनी।
तया नस्तन्वा शन्तमया गिरिशन्ताभि चाकशीहि॥
(यजु० १६। २॥)

इस मन्त्र में गिरिशन्त' का अर्थ महीधर ने निम्न किया है —

गिरिपाचि स्थित' शन्तिनोति विस्तारयति गिरिशन्तः।
वा गिरौमेघे स्थितो वृष्टि द्वारेण शन्तनोति गिरिशन्त'॥

अर्थात् वाणी में स्थित होकर शान्ति का विस्तार करे। अथवा ाव में स्थित होकर कल्याण का प्रसार करे। वह 'गिरिशन्त' है। हाँ पर्वत पर रहने वाले शिव का अर्थ लगाना सर्वथा असंगत ग्रौर प्रकरण विरुद्ध है।

श्रीश्चते लक्ष्मीश्च पत्न्या वहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणिरूप ाश्विनौव्यात्तम्। इष्णन्निपाणामु म इपाण सर्व लोकं म ऽइपाण॥
(यजु० '१। २२।)

महीधर ने इस मन्त्र का भाष्य करते हुए लिखा है —

श्रीः लक्ष्मीश्च ते तव पत्न्यौ । जायास्था नीयेत्व द्वश्ये इत्यर्थः ।
यथा सर्वजनाश्रयणीयो भवति सा श्री' सपदित्यर्थ । यथा लक्ष्यते दृश्यते जनै. सा लक्ष्मीः । सौन्दर्य मित्यर्थ : ।

अर्थात् श्री और लक्ष्मी आपकी पत्निया हैं । पत्नी के समान आपके वश में हैं, यह अर्थ है। जिसका सब जनता आश्रय लेती है वह श्री सम्पत्ति यह अर्थ है। जिसे लोग देखते हैं वह लक्ष्मी — सौन्दर्य, यह अर्थ है ।

स्वामी दयानन्द ने इस मन्त्र का निम्नार्थ किया है :—

हे जगदीश्वर आपकी सामग्री शोभा और सब ऐश्वर्य भी दो स्त्रियो के तुल्य वर्त्तमान है।

एह्यश्मानमा तिष्ठाश्मा भवतु ते तनू. ।
कृण्वन्तु विश्वे देवा आयुष्टे शरदः शतम् ॥
(अथर्व० २ ।१३ ।४ ।)

इस मन्त्र को मूर्ति मे प्राण प्रतिष्ठा करने में लगाया जाता है परन्तु यहाँ उपनयन संस्कार के समय का वर्णन है । इस पर सायणाचार्य लिखते हैं —

हे माणवकः ! एहि आगच्छ । अश्मानम् आतिष्ठ दक्षिणेन पादेन क्रम । ते तव तनू. शरीरं अश्मा भवतु । अश्मावत् रोगादि-विनिर्मुक्तं दृढ़ भवतु । विश्वेदेवाश्च ते शत सवत्सर – परिमितम् आयु. कृण्वन्तु कुर्वन्तु—अर्थात् हे माणवक छात्र ! आओ पत्थर को दाहिने पाँव से क्रमण करो !

तुम्हारा शरीर सब तरह रोगादि से रहित दृढ़ हो । समस्त देव गण तुम्हारी आयु को सौ वर्ष परिमित करें ।

—इस मंत्रमे प्राण प्रतिष्ठा की गंध मात्र भी नहीं है ।

नील ग्रीवा शितिकण्ठा दिव ग्वं रुद्राऽउपश्रिता. ।
तेषा ग्वं सहस्रयोजनेऽव धन्वानि- तन्मसि ॥(यजु० १६।५६)

इस मंत्र में नील ग्रीवं शिव का वर्णन बताया जाता है परन्तु उव्वट इसकी टीका करते हुए लिखते हैं—

"नीलग्रीवाः द्युस्थाना उच्यन्ते"। अर्थात् नीलग्रीव द्यो स्थान में रहते हैं, ऐसा कहा जाता है।

असौ योऽवसर्पति नीलग्रीवो विलोहित. ॥उतैन गोपाऽअदृ-श्रन्नदृश्रन्नुदहार्यः सदृष्टो मृडयाति न. ॥ (यजु० १६।७ ।)

इस पर नीलग्रीव का अर्थ उव्वट ने निम्न प्रकार किया है—

अशौच आदित्यः अवसर्पति अर्वाचीनं सर्पति गच्छति अस्त मय काले नीलग्रीवास्तं गच्छन् लक्ष्यते।

अर्थात् जब सूर्य पश्चिम दिशा में जाकर छिपता है तब नील गर्दन वाला सा दिखाई पड़ता है, अतः नीलग्रीव है।

उपर्युक्त दोनों मन्त्रों में अस्त होने वाले सूर्य को नीलग्रीव कहा गया है।

एषो ह देवः प्रदिशो ऽनुसर्वाः पूर्वो ह जात. स उ गर्भे अन्तः।
स एव जात' स जनिष्यमाणः प्रत्यङ्ग् जनास्तिष्ठति विश्वतोमुख

(यजु० २।३४।)

इस पर उव्वट का भाष्य—एष एव देव प्रदिश' दिशाश्च: सर्वाश्रनु व्याप्य वर्तन्ते तिर्यगूर्ध्वमधश्चेति। पूर्वो हजात' अनादि निधन' सम्भूतः सउ गर्भे अन्त' स एव च मातुरुदरे अन्तर्गर्भे व्यवतिष्ठते स एव जातः स जनिष्यमाणिः। तदुक्तं सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीतेति प्रतिपदार्थ मञ्जनः। हे जनाः तिष्ठति सर्वतो मुखः सर्वतो ऽक्षिशिरोग्रीव पाणिपादः तिष्ठति। अचिन्त्यशक्तिरित्यर्थ

अर्थात् यह देव—परमात्मा प्रदिशाओं और सारी दिशाओं को व्याप्त करके स्थित है। तिरछे ऊपर नीचे भी। वह पूर्व जात

–अनादि निधन है। वही माता के गर्भ मे भी व्यवस्थित —(व्यवस्था के साथ स्थित) है। वही जात पैदा और जनिष्यमाण (पैदा होने वाला) पदार्थ है। कहा भी है –

सब कुछ यह ब्रह्म ही है । उससे ही जीव पैदा होते हैं। उससे ही जीव भय को प्राप्त होते हैं। और उससे ही जीवित होते हैं। ऐसा जन शान्त हुआ प्रत्येक पदार्थ से उपासना करे।

हे लोगो ! वह सब ओर आँख, शिर, ग्रीवा और हाथ पैर वाला स्थित है। अर्थात् अचिन्त्य शक्ति है

इस मंत्र से ईश्वर का गर्भ मे आना और अवतार लेना सर्वथा असिद्ध है। परमात्मा सर्व व्यापक होने से माता के गर्भ में भी स्थित है।

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।
समूढमस्य पा ग्व सुरे स्वाहा ॥ (यजु० ५ ।१५)

इस मन्त्र पर यास्काचार्य का भाष्य इस प्रकार है –
अथ यद्विषितो भवति तद्विष्णुर्भवति। विष्णुर्विशतेर्वा व्यश्नोतेर्वा। तस्यैषा भवति "इदं विष्णुर्विचक्रमे" यदिदं किञ्च तद्विक्रमते विष्णुः त्रिधा निधत्ते पदं पृथिव्याम् अन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः, समारोहणे विष्णुपदे गयशिर सीत्यौर्णवाभ.। समूढमस्य पासुरे ऽप्यायने अन्तरिक्षे पदं न दृश्यते, अपि वोपमार्थे स्यात्, समूढमस्य पांसुल इव पदं न दृश्यते, इति

निरुक्तदैवत ॥१२ । २। १२॥

अर्थात् जिस लिए किरणो से व्यापक होता है अतः विष्णु कहते हैं। किरणों से प्रविष्ट होता है, इस लिए भी विष्णु कहते हैं। सर्वत्र रश्मियों द्वारा प्रविष्ट होता है, इसलिए भी विष्णु कहते हैं।

जो ऐसा कार्य करे वह विष्णु। अर्थात सूर्य तीन प्रकार से पृथ्वी, अंतरिक्ष और आकाश मे अपने पद (किरण) डालता है।

ऐसा शाकपूणि आचार्य का मत है। और्णवाभ आचार्य ने तीनों पदों को प्रात' मध्याह्न और अस्त समय की सूर्य किरणें माना है। इस सूर्य की जो विद्युत नाम की किरण है वह आकाश में अदृश्य है जिस प्रकार रेतीली भूमि पर पैरों के निशान दिखलाईनहीं देते (दुर्गा चार्य)

महीधर ने तीन पदों कीव्याख्या अग्नि, वायु, और सूर्य रूप से की है, और विष्णु से परमात्मा का अर्थ ग्रहण किया है।

जिस प्रकार रेतीली भूमि पर रखा हुआ पैर का निशान दिखाई नहीं देता, इसी प्रकार पुण्य न करने वालों को उस परमात्मा का साक्षात्कार नहीं होता।

उव्वट ने भी इसी मे मिलता जुलता अर्थ किया है।

उनके विचार से पद का अर्थ है जिसके द्वारा ज्ञान हो।

विष्णु ने भूमि, अन्तरिक्ष और द्युलोक में अग्नि, वायु और सूर्य रूप से अपने पद रखे। अर्थात् तीनों लोकों में विद्यमान इन तीन शक्तियों से परमात्मा का ज्ञान (अनुमान) किया जा सकता है।

सायण ने इसी मन्त्र पर ऐतेरेय ब्राह्मण में दी हुई एक आख्यायिका का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है-

"इन्द्र ने युद्ध में हारे हुए असुरों से संधि की यह शर्त रखी कि यह विष्णु तीन पदों में जितनी वस्तुऐं नाप लें, वहाँ हमारा और शेष पर तुम्हारा सम्राज्य रहेगा। असुरों के सहमत हो जाने पर विष्णु ने पहले पैर से दोनों लोक (आकाश और पृथ्वी)

दूसरे से वेद और तीसरे मे वाणी को नाप लिया।

इस आख्यायिका का सम्बन्ध कुछ विद्वान पुराणों मे वर्णित वामनावतार की कथा से जोड़ने का प्रयत्न करते हैं। यह कथा पुराण की कथा से सर्वथा भिन्न है। क्योंकि पुराणों के अनुसार विष्णु ने वामन बन कर तीन चरणों से तीनों लोक नापे थे।

मत्र मे इस प्रकार की कथा का लेश मात्र भी संकेत नहीं है, और न कहीं वामन शब्द ही आया है।

सत्यव्रत सामश्रमी ने सायण के पुराण सम्मत व्याख्यान को वैदिक लोगों के लिये अनादरणीय बताया है, क्योंकि यास्क ने ऐसा नहीं लिखा और वेद मं कहीं अवतार शब्द के दर्शन नहीं होते।

मल्व बिभ्रती गुरुभृद भद्रपापस्य निधन तितिक्षु ।
वराहेण पृथिवी सविदाना सूकराय वि जिहीते मृगाय ॥
(अथ० १२ । १ । ४८)

इस मंत्र का वास्तविक अर्थ यह है, धारण सामर्थ्य से युक्त या बहुतों को धारण करने वाली एव पुण्यात्मा और पापी सबको सहन करने वाली पृथ्वी, मेघ से सब कुछ प्राप्त करती हुई सुन्दर किरणों वाले सूर्य को प्राप्त होती है। "अर्थात् यह पृथ्वी सूर्य की आकर्षण शक्ति से कार्य करती है। निरुक्तकार ने वराह शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है,—

"वराहो मेघो भवति। वराहार" "वरमाहार माहार्षी, इति च ब्राह्मणम्"।"विध्यद्वराह तिरोऽद्रिमस्ता" इत्यपि निगमो भवति अयम पीतरो वराह एतस्मादेव। वृहति मूलानि वरं वर मूल वृहती तिवा। वराह मिन्द्रएमुषम्'' इत्यपि निगमो भवति॥

वराह मेघ होता है, क्योंकि वह वर अर्थात् जल का आहार करता है।

इसी अर्थ की दृष्टि से ब्राह्मण मे मेघ के विषय मे लिखा है कि उसने जल रूप आहार को ग्रहण किया है। विद्युत वराह नाम के ग्र थ में भी 'मेघ को भेदते हुए' यह अर्थ है, दूसरा वराह शब्द भी इसी लिए शूकर के अर्थ मे प्रयुक्त होता है, क्योंकि वह अच्छी अच्छी जड़ों का आहार करता है। इस मत्र मे वराह अवतार किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं होता।

कृष्ण शब्द वेदों के अनेक मंत्रों मे आया है। परन्तु उसका कृष्णावतार से दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। इन म त्रों मे उसका प्रयोग प्रायः काला रंग, आकर्षक- काला बादल आदि अनेक अर्थों मे हुआ है ऐसे कुछ मन्त्राश यहाँ दिये जाते हैं :-

त्वे अग्ने सुमति कृष्ण वर्ण ॥ऋ० १ ।७३।७ ॥ काला रंग।

प्रत्यकी कृष्ण मध्व ।।ऋ० १ । ६२ । ५ ॥ -काला रंग।

प्रमन्दिने यः कृष्ण गर्भा निरहन्नृजिश्वना ॥ऋ० १। १०१ १॥

यहाँ कृष्ण गर्भा के अर्थ पाप गर्भा के हैं।

तन्मित्रस्य कृष्णमन्यद्धरित स भरन्ति ॥ऋ०१ ।११५।५

अथर्व० २०।१२३।२।२। यजु० ३३।३८।

कृष्ण कर्षक, आकर्षण करने वाला।

अथ चक्रमि आकृष्ण ईजुः ॥ ऋ० ४। १६ : १४ ॥

कृष्ण वर्णो मेघः ॥ (सायण) काला बादल।

अहश्च कृष्णं हरर्जुनश्च ॥ऋ० ६ । ६ । १ । यहाँ कृष्ण शब्द दिन का विशेषण है। जिसके अर्थ काले के हैं।

प्रथ दश्वो वृजनं कृष्णमस्ति ॥ऋ० ७ । ३ । २ ॥ य० १५।६३॥

अर्थ तस्य वृजनं कृष्णं भवतीति वृजति गच्छत्य तनेनेति ॥ वृजनं कृष्णं भवति। (उव्वट)।

एतस्याग्नेः वृजनं गमनं स्थानं कृष्णमस्ति श्यामं भवति। कृष्णवर्त्मा हुताशनः ॥ (महीधर) ।

कृष्णोऽअसि ॥ यजु० २ । १ ॥ — अस्ति कृष्ण शब्दो वर्ण वचनाऽन्तो दात्तः आस्ति कृष्ण शब्दो मृगवचन आद्युदात्तः। तदि हाद्युतातत्त्वात् कृष्णमृगो गृह्यते ॥ (उव्वट)

अयं तु कृष्ण शब्द आदात्त त्वान्मृगवाचि ॥ [महीधर] यहाँ पर कृष्ण शब्द काले मृग का अर्थ देता है ।

अश्वस्तु .... कृष्ण ग्रीवः ॥ यजु० २४।१॥

कृष्ण ग्रीवश्छाग. । [उव्वट] , कृष्ण ग्रीवः श्याम गलोऽजः [महीधर] —काली गर्दन वाला बकरा ।

आकृष्णेन् रजसा ॥ यजु० ३३ । ४३ ॥— कृष्णेन रजसा रात्रि लक्षणेन सह ॥ [उव्वट —महीधर] यहाँ आकर्षण के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।

कृष्णेन रजसा ॥ यजु० ३४ । २५ । — तमोलक्षणेन । [उव्वट]

कृष्णेन अंधकार लक्षणेन (महीधर) — अंधकार ।

वेदों में कहीं कहीं राम शब्द भी प्रयुक्त हुआ है । उसका भी अर्थ प्रायः अंधकार ही लिया गया है—उसका अर्थ ईश्वर अथवा रामावतार के लिये कहीं भी नहीं लिया गया। ऐसा ही एक प्रसिद्ध मन्त्र जिसे प्रायः रामावतार सिद्ध करने के लिए प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया जाता है ; निम्न प्रकार हैं :—

भद्रो भद्रया सचमान आगात्स्वसारं जारो अभ्येति पश्चात् ।
सुप्नकेतैर्द्युभिरग्निर्वितिष्ठन्नुशद्भिर्वर्णैरभिराममस्थात् ॥

सायण भाष्यः—ऋ० १०।३।२

भद्रो भजनीयः कल्याणो भद्रया भजनीयया दीप्त्योपसा वा सचमानः सेव्यमानः संगच्छमानो वग्नि रामात् आजगामागा— र्हपत्यादाहवनीयमागच्छति ततःपश्चाज्जारो जरयिता शत्रूणां सोऽग्नि

स्वसारं स्वयं सारिणीं भगिनीं वागसामुपमभ्येति । प्रथा अप्रके-तैःसुप्रज्ञानैर्द्युभि दीप्तैस्तेजोभिः सह वितिष्ठन् सर्वतो वर्त्तमान. सोऽग्नीसरुशद्भिः श्वतैर्वरौर्विरिकैरात्मीयैस्तेजोभी राम कृष्ण शार्वरंतमो ऽभ्यस्थात् । सायं होम ऽभिभूय तिष्ठति ।

यहाँ पर सायण ने राम का अर्थ कृष्ण रंगवाला, रात्रि सम्बन्धी अन्धकार किया है ।

महावीर

शत पथ में यज्ञ के एक मिट्टी के पात्र 'महावीर' को वनाने का वर्णन है और उसमें इसके वनाने मे कुछ वेद मन्त्रों का भी विनियोग किया गया है । इसी 'महावीर' पात्र को लेकर मूर्ति-पूजा समर्थक बहुत से पौराणिक पण्डित इससे 'महावीर' की मूर्ति-पूजा सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं । यद्यपि इन वेद मन्त्रों मे कहीं भी 'महावीर' का उल्लेख नहीं है, और इन मन्त्रों का विनियोग सर्वथा असंगत है तथापि हम यहाँ कुछ प्रमाण देते हैं कि 'महावीर' यज्ञ पात्र ही है अन्य कुछ नहीं । यहाँ यह भी विचारणीय है कि यह 'महावीर ' यदि मूर्ति है तो किसकी है ? तब क्या पूँछ वाले पौराणिक हनुमान की है ? महावीर कोई पौराणिक ईश्वरावतार तो है नहीं, जो इनके अवतार 'राम' के अनुसार थे । अथवा जैनों का तीर्थंकर 'महावीर' है ? इनकी बुद्ध के समान अवतारों में गणना नहीं की गई । ऐसी दशा में 'महावीर की मूर्ति-पूजा वेदों से सिद्ध करने में इनका क्या लक्ष्य है—यह यहीं जानें ।

"किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु०" ऋ० ३।५३।१४ ॥

इस उपर्युक्त ऋक् मन्त्र पर सायणाचार्य जी "धर्मप्रवर्ग्याख्य कर्मोपयुक्तं महावीर पात्रम् स्वपयः प्रदान द्वारेण न तपन्ति" ॥ ॥ ३ । ५३ । १४ ॥

अर्थात् कीकट देश वह कहलाता है जहाँ पर गौएँ अपने दूध से कर्मकांड में आने वाले पात्र महावीर को नहीं तपातीं ॥

तद्वेतद् देव मिथुनं यद् धर्म ॥

(ऐतरेय ब्राह्मण, १ । ४ । ५ । पृ० ६७॥)

इस पर सायणाचार्य जी—

"स्योघर्म प्रवर्ग्य हविराश्रय भूतो महावीराख्यो मृन्मयपात्र विशेषो योऽसावस्ति छिन्न प्रजननेन्द्रियरूपम्" ॥पृष्ठ ६७॥

अर्थात् वह यह धर्म है जो प्रवर्ग्य हवि का आश्रय भूत है। इसका नाम महावीर है — मिट्टी का पात्र है .. ..

महावीर यज्ञ साधने मृन्मय –पात्र भेदे तन्निर्माण विधिः।

(का० श्रौ० सू० २६ ॥वाचस्पत्यकोपखड २० पृष्ठ ४७४४

अर्थात् महावीर यज्ञ के साधन में मिट्टी का पात्र विशेष है।

"यदि महावीरो भिद्येत०" (ताण्डय ब्राह्मण ६। १०। १। ॥पृष्ठ ६२३ ॥)

इस पर सायण जी—

" यदि प्रव्रजन समये महावीर. त्रुट्येत् प्रादेश मात्र मृन्मये तस्मिन् पात्रे वहुल घृतमानीय सन्तप्त' तस्मिन्नाज्येपयः आनीय प्रवज्यते स्वप्रवर्ग्य पात्र विशेष महावीर सपदि भिद्येत् भिन्नो भवेत् तद् भिन्नं महावीरं पक्तते " ॥पृष्ठ ६२३ ॥

आशय—यदि कार्य करते समय महावीर पात्र टूट जाय 'त्रुटटेत्' तो उस महावीर पात्र को घृत में दूध मिलाकर पकाले। आदि ०

ग्रिफिथ साहब ऋग्वेद की टीका करते समय पृष्ठ ४६२ पर लिखते हैं —

"Heated for Pravargya·--In which fresh milk was poured into a heated vessel called 'Mahavira,' or as in this place Gharma."

देवतायतनानि कम्पन्ते दैवत प्रतिमा हसन्ति, रुदन्ति, नृत्यन्ति स्फुटन्ति स्विद्यन्ति उन्मीलन्ति ॥ षड् विंश ब्राह्मण

इस ब्राह्मण वचन को देखकर मूर्तियों का हंसना, रोना, नाचना पसीना आना, आदि क्रियाओं का होना सिद्ध किया जाता है। यद्यपि यह वेद मंत्र नहीं है और न इस ब्राह्मण को जिसका यह वचन है प्रमाण ही माना जाता है।

तथापि यदि मान भी लें तब मन्दिरो की मूतियों मे यह क्रियायें कहाँ दिखाई देती हैं? इस प्रकार की मिथ्या कल्पनाओं द्वारा जन साधारण को पडे- पुजारिओं के धोखा देने के दिन गए। अब यदि यह चमत्कार कर दिखाये जायॅ तो मूर्ति पूजा स्वयं सिद्ध हो जाय।

यहां हमने इन वेद मंत्रों के वे अर्थ जो हमें अभिमत है, ग्रन्थ विस्तार भय से नहीं दिये। इन मंत्रों पर जिन भाष्यकारों की हमने ऊपर सम्मतियां उद्धृत की हैं उनसे हमारा अभिप्राय केवल इतना ही सिद्ध करना है कि वेदों के इन मंत्रों में जैसी कि कुछ विद्वानों को भ्रांति है, मूर्ति पूजा तथा उसका सहचर अवतारवाद नहीं है। ऐसे और भी मंत्र हैं जिनमें किसी पुराण प्रतिपादित अवतार देवता तथा तीर्थस्थानादि का नाम देखकर वेदों में उनका उल्लेख सिद्धकरने का निरर्थक प्रयास किया जाता है वास्तविकता यह है कि इस देश के विद्वानों के आलस्य और प्रमाद के कारण हजारों वर्ष से वेदों का पठन पाठन यहाँ सर्वथा विलुप्त होगया। मध्यकालीन पौराणिक युग में वेद और वेद मंत्रों का विनियोग केवल यज्ञादि कर्मकांड में होना शेष रहगया। उनका शब्दार्थ करने अथवा जानने की कोई आवश्यकता नहीं समझी जाने लगी, परिणाम जो होना था वही हुआ। यहाँ के संस्कृत के दिग्गज विद्वानों तक ने वेद मन्त्रों के कुछ शब्दों को लेकर उनका अशुद्ध विनियोग करना प्रारम्भ कर दिया। "शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये" को

शनिदेवता का 'इद्वुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि"। को नवगृह के बुद्धदेवता का, "गणाना त्वा गणपति हवामहे"। को गणेश पूजन का मन्त्र कहा और समझा जाने लगा। यद्यपि इन मन्त्रों का इन पौराणिक देवताओं से दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। इसी का अनुकरण वैदिक साहित्य से अनभिज्ञ बहुत से पाश्चात्य विद्वानों ने किया और उसी का अनुगमन यहाँ के अंग्रेजी के विद्वान कर रहे हैं। पौराणिक विद्वानों द्वारा इन मन्त्रों के अर्थ का अनर्थ करने का कारण जहाँ इनकी वैदिक साहित्य में गति न होना है, वहाँ उनके परम्परागत सस्कार, दुराग्रह एव मदिर तथा तीर्थस्थानों से लगा हुआ जीविका साधन भी है।

हजारों वर्ष के पश्चात् इस युग मे वेदों के बुद्धिगम्य भावार्थ को समझने और समझने का श्रेय एक मात्र ऋषि दयानन्द को ही दिया जा सकता है। यदि दयानन्द ने इनका युक्तियुक्त अर्थ करने का मार्ग प्रदर्शित न किया होता तो वेदों को गडरियों के गीत समझने में कोई संदेह नहीं रह गया था। शताब्दियों से विलुप्त वेदों की मानमर्यादा की पुनः स्थापना ऋषि दयानन्द द्वारा ही सम्भव हुई।

पौराणिक काल में वेदों की अक्षम्य उपेक्षा के साथ उन्हें ईश्वरीय ज्ञान के सर्वोच्च पद से च्युत करके उस स्थान पर पुराणों को आसीन करने का किस प्रकार दुष्प्रयास किया गया।—इसके प्रमाण पौराणिक साहित्य के अनुशीलन से आपको स्थान स्थान पर मिलेंगे।

यहाँ संक्षेप मे जो थोड़े से वेद मंत्र दिये गये हैं उनसे विद्वान पाठकों को यह समझने मे कुछ सहायता मिलेगी कि मूर्तिपूजा अथवा अवतारवादादि को वेदों में सिद्ध करने का प्रयास सर्वथा निराधार और निःसार है तथा वास्तविकता से बहुत दूर है।

शंका समीक्षा

" जब हम इमारत बनाते हैं तो मचान बॉंध कर उसके ऊपर खड़े होकर काम करते हैं और इमारत तैयार हो जाने पर मचान को निकाल देते हैं। जिनको ज्ञान प्राप्त है उनके लिये मन्दिर और तड़ाग की आवश्यकता नहीं होती, किन्तु सामान्य लोगों के लिए पूजा, स्नान आदि की आवश्यकता रहती है"।

—श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य

"मूर्ति-पूजा ईश्वर प्राप्ति की सीढ़ी है"—की समीक्षा, शंका समीक्षा [११] में की जा चुकी है। यह शंका भी उस जैसी ही है। यहाँ मचान की मूर्ति-पूजा से तुलना की गई है और उसे अज्ञ पुरुषों के लिए ईश्वर प्राप्तिका साधन बताया गया है। योग साधन और मूर्ति पूजा अध्याय में यह सिद्ध किया जा चुका है कि योग-दर्शन ईश्वर प्राप्ति के साधनों में मूर्ति पूजाका समावेश नहीं करता, यम नियमादि अष्टाग योग ही उसके साधन हैं जो सामान्य और असामान्य सभी लोगों की पहुँच से बाहर नहीं हैं मचान की इन्ही यम नियमादि से तुलना की जा सकती है मूर्ति पूजा से नहीं। साधन साध्य के समतुल्य ही होना चाहिए तभी साध्य की प्राप्ति सम्भव है। मूर्ति पूजा को प्रथम, साधन मान लिया गया और उसे मचान से उपमा देदी परन्तु मूर्ति पूजा तो एक खाई है जिसमें गिर कर मनुष्य उससे कभी बाहर नहीं आता। हमने आज तक किसीको नहीं देखा कि जिसने मूर्ति पूजा इसलिए छोड़ दी हो कि अब उसे उसकी आवश्यकता नहीं रही। एक मूर्ति पूजक सदा मूर्ति पूजक रहता है। इस प्रकार भवन निर्माण होने पर भी मचान भी साथ ही साथ खड़ा रहता है, या यों कहिए कि यह भवन कभी बन ही नहीं पाता, और हम मचान बना कर सदाही उस पर खडे रहते है।

इसी प्रकरण मे राजा जी जैसे विद्वान और सहिष्णु व्यक्ति ने कहा है — "जिन्हें मूर्ति पूजा पसंद नहीं वे वैसी पूजा न करें परन्तु मूर्ति पूजा खडन मूर्खता है।" तब तो जिन महापुरुषों, विद्वानों और आचार्यो—जिसमे हजरत मुहम्मद, ऋषि दयानन्द, राजा राममोहनराय, गुरुनानक, कबीर, दादू जिन्होंने असंदिग्ध रूप से मूर्ति पूजा का खडन किया है, सभी मूर्ख हुए ? ईसा, शंकराचार्य, सततुकाराम, गुरुरामदास ज्ञानेश्वर, मार्टिन लूथर, बसवेश्वर, शिवाक्विर माणिकदाचकर आदि अनेक सत और आचार्य हुए हैं जिन्होंने मूर्ति पूजा की तीव्र आलोचना की है यह दूसरी बात है कि आगे चलकर उनके अनुयायी स्वयं मूर्ति पूजा करने लगे हों — क्या ये भी मूर्ख कोटि मे आते हैं ? हमें दुःख है कि राजाजी जैसे विद्वान ने आवेश मे आकर ऐसे अदूरदर्शिता पूर्ण वाक्य लिखे हैं। मूर्ति पूजा वेद, शास्त्र, उपनिषदादि आर्ष ग्रंथो के विपरीत है। अतएव उसकी आलोचना न केवल युक्ति संगत है, अपितु वैदिक संस्कृति के प्रत्येक उपासक का धर्म है।

(२)

एक बार राजा [अलवर नरेश] ने स्वामी जी से कहा कि मूर्ति पूजा पर मेरा विश्वास नहीं होता। राजा की यह बात सुनकर स्वामी विवेकानन्द दीवार पर से महाराज का चित्र उतार कर दीवान से बोले, "यह किसका चित्र है" ? दीवान ने कहा, "यह महाराजा साहब का फोटो है"। जो लोग वहाँ मोजूद थे उन लोगों से स्वामी जी ने फोटो पर थूकने के लिए कहा। लेकिन किसी ने भी वैसा करने का साहस न किया। विस्मय व डर के मारे सभी घबरा उठे। तब स्वामी जी बोले, "चित्र में तो महाराजा साहब नहीं हैं, तो भी इस पर कोई थूकने की हिम्मत नही करता। इसका एक मात्र कारण यही है कि सब लोग यह

सोचते हैं कि ऐसा करने से जिसका यह चित्र है उसका अपमान होगा। मूर्ति पूजा में भी ऐसा ही है। कोई ईंट, पत्थर या काठ की पूजा नहीं करता, बल्कि अपने इष्ट देव के अनुकूल मूर्ति बनाकर पूजता है। उसी मूर्ति में वह अपने इष्टदेव की छाया देख पाते हैं, ईंट पत्थर को नहीं देखते। जो मूर्ति की पूजा करते हैं वे क्या कभी यह कहते हैं, "हे ईंट, हे पत्थर, हे काठ! मैं तुम्हारी पूजा करता हू, तुम मुझ पर दया करो।" स्वामी जी का यह उत्तर सुनकर महाराजा साहब बोले, आपने मेरे हृदय के अन्धकार को दूर कर दिया, मेरी आखें खोल दीं।"

—यहाँ स्वामी विवेकानन्द जैसे जगत् प्रसिद्ध विद्वान ने वाक्छल का आश्रय लिया है—प्रश्न कुछ है उत्तर कुछ और है। किसी के चित्र अथवा मूर्ति का जानबूझकर अपमान करना निश्चय ही उसका, जिसकी वह मूर्ति है, अपमान है। वैसे नित्य समाचार पत्रों में प्रकाशित चित्र रद्दी में पड़कर जाने, अनजाने सभी प्रकार के कार्यों में आते रहते हैं। परन्तु यहाँ प्रश्न मूर्ति पूजा का है, मूर्ति भंजन या उसे अपवित्र करने का नहीं है। किंतु जो परमात्मा निराकार और अमूर्त है उसका तो कोई चित्र या मूर्ति नहीं जिसे अपवित्र या अपमानित किया जा सके। यह ठीक है कि वह सर्वव्यापक होने से प्रत्येक वस्तु में व्याप्त है, परन्तु इससे वह वस्तु परमात्मा तो नहीं हो जाती। यदि ऐसा मान लिया जाय तो ईंट, पत्थर, पृथिवी, जिन्हें हम नित्य मल-मूत्र से अपवित्र करते रहते हैं, क्या उससे परमात्मा अपवित्र हो जाता है? प्रश्न सीधा यह है कि क्या यह मूर्तियां, जिनकी लोग पूजा करते हैं क्या परमात्मा की हैं? यदि नहीं तो वह ईश्वर-पूजा कैसे हुई? जिस जिसकी वह मूर्ति है उसकी पूजा तो एक क्षण को आप कह सकते हैं, परन्तु ईश्वर की नहीं। परन्तु किसी महापुरुष की पूजा उसकी शिक्षा और उपदेशों का अनुकरण हो सकता है। उसे

जीवितों की भांति स्नान कराना, भोग लगाना, हाथ जोड़ना नहीं। मूर्ति-पूजा, ईश्वर प्राप्ति का साधन नहीं, इसे हम अन्यत्र सिद्ध कर चुके हैं, अतएव उस पर पुनः कुछ लिखना पिष्ट पेषण होगा-पाठक उसे वहां देखलें।

एक मूर्ति-पूजक मूर्ति को ही ईश्वर समझ कर उसकी पूजा करता है, उसमें व्यापक ईश्वर की नहीं, क्योंकि जब तक उस मूर्ति में प्राण प्रतिष्ठा नहीं होती वह उसे पाषाण की भांति जड़ वस्तु ही समझता है। प्राण प्रतिष्ठा होने पर उसकी पूजा का प्रकार यह सिद्ध करता है कि वह उस मूर्ति की ही पूजा करता है, ईश्वर की नहीं, अन्यथा सर्वव्यापक परमात्मा तो उस मूर्ति में प्राण प्रतिष्ठा से पूर्व भी व्याप्त था। यदि मूर्ति-पूजा में मूर्ति व्याप्त ईश्वर की पूजा है तो उसकी-स्नान, चन्दन-लेपन, भोग, दीप आदि-से अर्चना का कोई अर्थ नहीं, क्योंकि ईश्वर को तो इन वस्तुओं की आवश्यकता ही नहीं है। अतएव जो युक्तियां मूर्ति-पूजा की सिद्धि में श्री स्वा० विवेकानन्द ने दी है वे हेत्वाभास एवं भ्रांत हैं।

जसी नहीं है उसको वैसी मानना ही मूर्तिपूजा का ध्येय है और यही उसका असली रूप है। मूर्ति वनाना, मूर्ति को स्थापित करना और मूर्तिपूजना तीनों व्यापारों मे कल्पना का सबसे अधिक भाग है और ऐसी कल्पना का जो सचाई से कोसों दूर है। और दुर्भाग्य यह है कि मूर्ति-पूजक की तो कल्पना-शक्ति भी अविकासित ही रह जाती है, जो कुछ कल्पना का लाभ है वह मूर्ति-निर्माता के ही हिस्से में आता है। और निर्माता को भी अपनी कल्पना-शक्ति का विकास करने के साथ ही वचना से भी काम लेना पड़ता है। इसलिए मूर्तियों के निर्माता और पुजारियों का चरित्र पूजकों की अपेक्षा कहीं अधिक गिरा हुआ होता है। पुजारी धोखा देता है पूजक धोखे मे फस जाता है। पूजक चढ़ावा चढ़ाता है और पुजारी उसको ग्रहण करता है। पुजारी मूर्ति के विषय मे धोखेबाजी की कहानिया गढ़ता है और भोला पूजक उस पर विश्वास कर लेता है। इस प्रकार चोर वाजारी सदैव जारी रहती है।

हमारे शास्त्र कहते हैं कि 'ऋते ज्ञानान्न मुक्ति' अर्थात् विना ज्ञान के मुक्ति नहीं, मूर्ति का पुजारी इससे सर्वथा उलटा उपदेश देता है। वह निरन्तर यही कहता है कि वेद पढ़ते ब्रह्मा मर गए कोई ज्ञान की वृद्धि करके भी तरा है! तरता वही है जो विना विचारे देवता का सहारा लेता है। इसलिए मूर्ति के दर्शन करते समय भूल जाओ कि यह मूर्ति है। इसको साक्षात् ईश्वर समझो तभी कल्याण होगा। आत्मा का गुण है चेतनता अथवा ज्ञान। जिस मूर्तिपूजा से नित्य हमारे ज्ञान के साधनों में वाधा पड़े और अन्ध-विश्वास बढ़े उससे आत्म-लाभ कैसे होगा।

इसके अतिरिक्त मूर्तिपूजा एक सामाजिक रोग भी है। मूर्ति पूजक व्यक्ति और मूर्तिपूजक जातिया सदैव सामाजिक-सुधार के शत्रु रहे हैं। असत्य-दर्शन और असत्य से कभी कोई जाति

सामाजिक-सुधार मे सफल नहीं हो सकती। पुजारी अपने को ईश्वर का दूत या एजेण्ट समझता है। उसी के द्वारा पूजक और पूज्य में सम्बन्ध स्थापित होता है। वह बिचौलिया है। अत. वह अनेक प्रकार की धोखादिही मे भाग लेता है। दुनियां भर के सब प्रसिद्ध देवालयों में यात्रियों की आखों मे धूल डाल कर रुपया बटोरा जाता है। कहीं कहा जाता है कि देवी रग बदलती है, कहीं कहा जाता है कि श्री कृष्ण जी ने दांतोन की, कहीं कहा जाता है कि देवी भविष्यवाणी बोलती है। इस प्रकार मिथ्या विचारना, मिथ्या बोलना और मिथ्या का प्रचार करना यह मूर्तिपूजा का प्रतिफल है। मूर्तिपूजा की प्रशंसा में सैकड़ो मिथ्या ग्रन्थ रच दिए गए और उन्होने लोगों को अपने जाल में फसाया। धन का लोभ मूर्तिपूजा की बुनियाद है। इसी लोभ के कारण मूर्तिपूजा-गृह बनते हैं और इसी लोभ से प्रेरित होकर बड़े-बड़े ग्रन्थ रचे जाते हैं।

दो भ्रम हैं जिनके कारण बुद्धिमान् लोग भी मूर्तिपूजा के पक्षपाती हो जाते है। प्रथम तो यह कि मूर्तिपूजा से कला बढ़ती है। कलाकारों ने मूर्तिपूजा के कारण ही अपनी कलाओं का प्रदर्शन किया। परन्तु यह लोग भूल जाते ह कि कलाकारों की विद्या का यह दुरुपयोग था। इसका सदुपयोग किया जा सकता था। परन्तु जब कला के पक्षपातियों पर मूर्तिपूजा का प्रभाव होगया तो कला का सदुपयोग भी जाता रहा। कलाकारों ने मूर्तियों पर जो कला-विज्ञान व्यय किया वह धोखेबाजी फैलाने का साधन बन गया। उसने असली कला बढ़ाई नहीं अपितु घटा दी। जिस कला से मानव जाति का सदाचार गिरता हो वह कभी कला नहीं कहलाई जा सकती।

दूसरा भ्रम यह है कि अज्ञानी लोग मूर्ति को देख कर कुछ तो कर लेते हैं। यदि मन्दिर या मूर्ति न हों तो कोई ईश्वर का

नाम भी न ले। परन्तु यह एक भ्रमोत्पादक हेत्वाभास है। यदि मूर्तिपूजा न होती तो लोग वास्तविक ईश्वर के विषय मे कभी तो कुछ सोचते। मूर्तिपूजा मे फंसे रहने के कारण कोई सोचना तक भी नहीं कि ईश्वर क्या है, उसके गुण, कर्म और स्वभाव क्या हैं और हम उसकी उपासना कैसे कर सकते हैं।

ऋषि दयानन्द ने आदिकाल से ही मूर्तिपूजा के गढ़े से ससार को बचाने का प्रयास किया और जो प्रबल युक्तियां मूर्तिपूजा के विरोध मे सत्यार्थप्रकाश मे दी गई हैं वे अवश्य ही लोगों को असत्य से छुड़ाने वाली हैं। परन्तु कुछ दिनों से आर्य-समाज कुछ ऐसे झमेलों में फस गया है कि उसे वास्तविक सिद्धान्तों के प्रचार का समय नहीं मिलता। मुझे अत्यन्त हर्ष हुआ कि श्री राजेन्द्र जी ने 'भारत मे मूर्तिपूजा' नामक पुस्तक लिखी है। आजकल भारतवर्ष में मूर्तिपूजा का संक्रामक रोग बढ़ रहा है और जिन पुराने या नए आचार्यों ने मूर्तिपूजा का जोरदार खण्डन किया उनके अनुयायी भी अपने इस कर्तव्य से विमुख होकर शनैः शनैः मूर्तिपूजा के के विष को पान करते जा रहे हैं। मैंने पुस्तक को पढ़ा और युक्तियुक्त तथा लाभप्रद पाया।

अन्ध-विश्वास पर मुलम्मा करना ससार की अविद्या को बढ़ाता और दु ख का कारण होता है। यह पुस्तक अवश्य ही अन्ध-विश्वास को कम करने में करने में सहायक होगी।

दया निवास (कला प्रेस)
प्रयाग
२८—२—५

—गंगाप्रसाद उपाध्याय